आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां

डा० नगेन्द्र

गौतम बुक डिपो, दिल्ली

31

आधुनिक हिन्दी कविता
की
मुख्य प्रवृत्तियाँ

लेखक
डा० नगेन्द्र

गौतम बुक डिपो, दिल्ली।

प्रकाशक
गौतम बुक डिपो,
दिल्ली

१९५१
प्रथम बार: ३०००
मूल्य ३॥)

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
नई दिल्ली

प्रस्तुत संकलन के नये-पुराने लेख एक ही विचार-सूत्र में गुम्फित होने के कारण सहज ही एक निबन्ध का रूप धारण कर लेते हैं। इनमें अधुनातन हिंदी कविता की प्रवृत्तियों का ही विवेचन है—सियारामशरण तथा बच्चन पर लिखे हुए लेख भी विशेष प्रवृत्तियों को ही उदाहृत करने के आशय से दिये गये हैं।

शरद पूर्णिमा,
२००८

नगेन्द्र

विषय-सूची

आधुनिक हिन्दी कविता

की

मुख्य प्रवृत्तियाँ

यों तो आज का युग अनेक उलझी हुई अंतः बाह्य प्रवृत्तियों का जटिल संघात है, जिनका विश्लेषण करना सरल नहीं है, परन्तु एक तथ्य अत्यन्त स्पष्ट रूप से आज की दुनिया के सामने उपस्थित हो गया है और वह है दो परस्पर-विरोधी विचारधाराओं का संघर्ष । दर्शन के क्षेत्र में ये विचारधाराएं हैं आदर्शवाद तथा भौतिकवाद, और राजनीतिक क्षेत्र में लोकतंत्रवाद और साम्यवाद। इन्हीं दोनों की फिर आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में अनेक शाखाएं-प्रशाखाएं प्रस्फुटित होगई हैं । इन दोनों का पार्थक्य आज जितना स्पष्ट हो गया है उतना कभी नहीं था—आज ऐसा लगता है मानो समस्त विश्व ही दो वर्गों में विभक्त हो गया है । परन्तु यह तो इस संघर्ष का स्थूल और बाह्य रूप है, आन्तरिक रूप से यह दो शक्ति-संघों का संघर्ष इतना नहीं है जितना कि दो विचारधाराओं का, और उन्हीं से साहित्य का सीधा सम्बन्ध भी है । इन विचारधाराओं को स्थूल रूप से दक्षिणपक्षीय और वामपक्षीय विचारधारा भी कहा जाता है । विषय का आगे विवेचन करने से पूर्व, इन दो विचारधाराओं का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है ।

आदर्शवाद एक अध्यात्मपरक दर्शन है जिसका आधार जीवन के सूक्ष्मतर मूल्यों पर स्थित है । इसका मूल सिद्धान्त यह है कि इस दृश्यमान जगत का आविर्भाव एक चेतन सत्ता से हुआ है । यह चेतन सत्ता धार्मिकों की शब्दावली में ईश्वर, अध्यात्मवादियों की शब्दावली में ब्रह्म या आत्मन् और दार्शनिकों की शब्दावली में सत्य है । मूल अस्तित्व इसी चेतन सत्ता अथवा चेतना का है । दृश्यमान जगत के सभी नाम-रूप इसी के उद्भास हैं—उनकी सार्थकता यही है कि वे इस चेतना की अभिव्यक्ति का साधन हैं । इस प्रकार इस दर्शन के अनुसार भौतिक जीवन मनुष्य का साध्य नहीं है, वह सूक्ष्मतर आत्मा के जीवन का साधन है क्योंकि वही वास्तविक जीवन है । अतएव भौतिक मूल्य, जिनका

से सीधा सम्बन्ध है ही; इनका तो गांधी-दर्शन एक प्रकार से मूल आधार ही है। इन कविताओं के पीछे सत्य और अहिंसा के आदर्श की प्रेरणा है, इनकी देश-भक्ति जीवन के संस्कारी मूल्यों से अनुप्राणित है---वह यहां धर्मरूप में स्वीकृत की गई है। इनमें सर्वत्र ही परम्परा की श्रद्धापूर्ण स्वीकृति है। इनका लक्ष्य भौतिक सुख-समृद्धि न होकर भारत की जनता तथा उसके साथ समस्त मानवता का निःश्रेयस अभ्युदय है, और इनका साधन ध्वंस न होकर रचना है।

भारतीय आदर्शवाद के तीन पक्ष

भारतीय आदर्शवाद के---जिसका कि प्रतीक सम्प्रति गांधीवाद है---तीन पक्ष हैं। एक सौन्दर्यमय अनुभूत्यात्मक पक्ष, दूसरा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पक्ष, और तीसरा दार्शनिक-भौतिक पक्ष। पहले की अभिव्यक्ति छायावाद में हुई है, और दूसरे की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविताओं में। तीसरे पक्ष की अभिव्यक्ति अपेक्षया विरल है। वह हिन्दी के केवल एक ही प्रमुख कवि सियारामशरण गुप्त में मिलती है। परन्तु इस एक कवि में ही उसकी अभिव्यक्ति जितनी सटीक और पूर्ण हुई है उतनी भारत की किसी अन्य भाषा के कवि में शायद ही हुई हो।...

दूसरी चिन्ताधारा है भौतिकवाद, जो मूलतः मार्क्स-दर्शन से प्रभावित है। हिन्दी की जनजागरण-वादी कविताएं तो स्पष्टतः इसी चिंताधारा से प्रेरित हैं। इनके अतिरिक्त छायावाद की अतीन्द्रिय सौन्दर्य्य-विवृत्तियों और रोमानी रूप-उल्लास की प्रतिक्रिया में रची गई प्रयोगात्मक कविताओं का भी इसी चिन्ताधारा से सम्बन्ध है। हिन्दी में पहली को प्रगतिवादी और दूसरी को प्रयोगवादी नाम दिया गया है। प्रगतिवादी कविता तो एकांत रूप से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, वह तो एक प्रकार से मार्क्स-दर्शन के साथ पूर्णतः आबद्ध है। प्रयोगशील कविताओं में भी भौतिकवादी विचारधारा के कई तत्व वर्तमान हैं। उसका मार्ग घोषित रूप से विद्रोह का मार्ग है, उसमें परम्परा के प्रति अनास्था का प्रबल भाव है, और सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय के विरुद्ध भौतिक और मूर्त की महत्व-स्थापना है। हां, उसका दृष्टिकोण सामाजिक न रह कर अधिकतर वैयक्तिक हो जाता है।

उपर्युक्त दो परस्पर-विरोधी विचारधाराओं से प्रभावित आधुनिक हिन्दी कविता की ये चार मुख्य प्रवृत्तियां हैं। इनके अतिरिक्त एक प्रवृत्ति और है जो कदाचित् इनसे भी अधिक लोकप्रिय है; और उसके अंतर्गत आधुनिक युग की

वे रचनाएं आती हैं जो प्रत्यक्ष रूप से कवि के अपने सुख-दुख को लेकर लिखी गई हैं। यह एकांत वैयक्तिक कविता है जो आत्माभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष माध्यम है। इसमें कवि अपने से बाहर या परे नहीं जाता, अपने वैयक्तिक संघर्ष और तज्जन्य हर्ष-विषाद को ही काव्य के स्वरों में बांधता है। इसमें न किसी धुंधले आध्यात्मिक आदर्श का मोह है, और न किसी बाह्य सामाजिक कर्तव्य का आह्वान है। ये मन के गीत हैं और इसीलिए इतने लोकप्रिय भी हैं। हमारे आधुनिक कवियों में से अधिकांश ने इस प्रकार की थोड़ी बहुत कविताएं अवश्य लिखी हैं। और, यह स्वाभाविक भी है क्योंकि नागरिक सभ्यता के इस युग में भी नाना वस्त्रादि से अलंकृत अपने शरीर को कभी-कभी अनावृत करने में जिस प्रकार हमें एक सहज सुख का अनुभव होता है, इसी प्रकार अनेक सामाजिक-नैतिक आदर्शों और नीति-नियमों से आच्छादित अपनी अन्तश्चेतना को व्यक्त करने में भी एक विशेष आनन्द मिलता है। यह प्रवृत्ति उपर्युक्त दोनों चिन्ताधाराओं, दक्षिण-पक्षीय आदर्शवाद और वामपक्षीय भौतिकवाद की मध्यवर्ती है। इसमें पहले की अंतर्मुखी वृत्ति तथा वैयक्तिक चेतना है, और दूसरी का परम्परा के प्रति विद्रोह तथा भौतिक जीवन में आस्था। छायावाद की अमूर्त और अमांसल अनुभूतियों को मूर्त तथा मांसल रूप देते हुए, इस कविता ने प्रगतिवाद की भौतिक मान्यताओं के लिए पथ प्रशस्त किया। इस प्रकार यह प्रवृत्ति छायावाद की अनुजा और प्रगतिवाद की अग्रजा है।

संक्षेप में आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां ये ही हैं। आदर्शवादी चिंताधारा के अन्तर्गत---छायावाद तथा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता। इनके अतिरिक्त, सियारामशरण गुप्त की कविता---जिसमें गांधीवाद के दार्शनिक-नैतिक पक्ष को अभिव्यक्त किया गया है---इसीके अंतर्गत आती है।

वैयक्तिक कविता---जो आदर्शवाद और भौतिकवाद के बीच का सेतु-मार्ग है और जिसके अग्रणी कवि बच्चन हैं।

भौतिकवादी चिंताधारा के अंतर्गत प्रगतिवाद और प्रयोगवाद।

: १ :

छायावाद

छायावाद

आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व, युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने ,वाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर, जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप से अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारे दर्शन और कर्म को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्हीं ने भाव (सौन्दर्य) वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।

पिछले महासमर के उपरान्त यूरोप के जीवन में एक निस्सार खोखलापन आ गया था—जीवन के प्रति विश्वास ही नष्ट हो गया था। परन्तु भारत में आर्थिक पराभव के होते हुए भी जीवन में एक स्पन्दन था। भारत की उद्‌बुद्ध चेतना युद्ध के बाद अनेक आशाएँ लगाये बैठी थी। उसमें स्वप्नों की चंचलता थी। वास्तव में भारत की आत्म-चेतना का यह किशोर काल था जब अनेक इच्छा-अभिलाषाएँ उड़ने के लिए पङ्ख फड़फड़ा रही थीं। भविष्य की रूप-रेखा नहीं बन पाई थी, परन्तु उसके प्रति मन में इच्छा जग गई थी। पश्चिम के स्वछन्द विचारों के सम्पर्क से राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति असन्तोष की भावना मधुर उभार के साथ उठ रही थी, भले ही उनको तोड़ने का निश्चित विधान अभी मन में नहीं आ रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थीं। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं, और वहाँ से क्षति-पूर्ति के लिये छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।

छायावाद में आरम्भ से ही जीवन की सामान्य और निकट वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा, एक विमुखता का भाव मिलता है। नवीन चेतना से उद्दीप्त कवि के स्वप्न अपनी अभिव्यक्ति के लियें चंचल हो रहे थे, परन्तु वास्तविक जीवन में उसके लिए कोई सम्भावना नहीं थी। अतएव स्वभावतः

ही उसकी वृत्ति निकट यथार्थ स्थूल से विमुख होकर सुदूर, रहस्यमय, और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी। भावनाएँ कठोर वर्तमान से कुण्ठित होकर स्वर्ण-अतीत या आदर्श भविष्य में तृप्ति खोजती थीं---ठोस वास्तव से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थीं---कोलाहल के जीवन से भागकर प्रकृति के चित्रित अंचल में शरण लेती थीं---स्थूल से सहम कर सूक्ष्म की उपासना करती थीं। आज के आलोचक इसे पलायन कह कर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव में अन्तर्मुखी भावना ही है। वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृत्ति ही छायावाद की मूल वृत्ति है। उसकी सभी अन्य प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है।

व्यक्तिवाद

यह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जिन विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है उनमें सबसे मुख्य है व्यक्तिवाद। व्यक्तिवाद के दो रूप हैं। एक, विषय पर विषयी की मनसा का आरोप अथवा वस्तु को व्यक्तिगत भावनाओं में रँग कर देखना। दूसरा, समष्टि से निरपेक्ष होकर व्यष्टि में ही लीन रहना।

द्विवेदी युग की कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी। उसकी प्रतिक्रिया में छायावाद की कविता भावात्मक एवं आत्मगत हुई। दूसरे, उस कविता का विषय बहिरङ्ग सामाजिक जीवन था : द्विवेदी युग का कवि बहिर्मुख होकर कविता लिखता था। छायावाद की कविता का विषय अन्तरङ्ग व्यक्तिगत जीवन हुआ : छायावाद का कवि आत्मलीन होकर कविता लिखने लगा। उसका यही व्यक्ति-भाव प्रसाद में आनन्दवाद और निराला में अद्वैतवाद के रूप में प्रकट हुआ। पंत में उसने आत्मरति का रूप धारण किया और महादेवी में परोक्षरति का जो आत्मरति का ही प्रक्षिप्त रूप है।

शृङ्गारिकता

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की दूसरी अभिव्यक्ति है शृङ्गारिकता। छायावाद की कविता प्रधानतः शृङ्गारिक है, क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुंठाओं से, और व्यक्तिगत कुण्ठाएँ प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। जिस समय छायावाद का जन्म हुआ उस समय स्वच्छन्द विचारों के आदान से स्वतन्त्र प्रेम के प्रति समाज में आकर्षण बढ़ रहा था। परन्तु सुधार-युग की कठोर नैतिकता से सहम कर वह अपने में ही कुण्ठित रह जाता था। समाज के चेतन

मन पर नैतिक आतङ्क अभी इतना अधिक था कि इस प्रकार स्वछन्द भावनाएँ अभिव्यक्ति नहीं पा सकती थीं। निदान वे अवचेतन में उतर कर वहाँ से अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त होती रहती थीं; और यह अप्रत्यक्ष रूप था नारी का अशरीरी सौन्दर्य अथवा अतीन्द्रिय शृङ्गार। छायावाद का यह अतीन्द्रिय शृङ्गार दो प्रकार से व्यक्त होता है। एक तो प्रकृति के प्रतीकों द्वारा : प्रकृति पर नारी भाव के आरोप द्वारा। दूसरे, नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य द्वारा अर्थात् उसके मन और आत्मा के सौन्दर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा।

छायावाद में शृङ्गार के प्रति उपभोग का भाव न मिल कर, विस्मय का भाव मिलता है। इसलिये उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझ-कर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारी के अङ्गों के प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतङ्क से सहम कर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत हो गया है। इसी कौतूहल ने छायावाद के कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डाल दिए हैं : और वास्तव में छायावाद के झिलमिल काव्यचित्रों का मूल उद्गम ये ही झिलमिल पर्दे हैं। उसके वायवी रूप-रंग का वैभव उन्हीं से उत्कीर्ण होता है और इन्हीं पर आश्रित होने के कारण छायावाद की काव्य-सामग्री के अधिकांश प्रतीक काम-प्रतीक हैं।

प्रकृति पर चेतना का आरोप

छायावाद में प्रकृति के चित्रों की प्रचुरता है। कुछ विद्वानों की तो यह धारणा है कि छायावाद का प्राण-तत्त्व ही प्रकृति का मानवीकरण अर्थात् प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप है। यह सत्य है कि छायावाद में प्रकृति को निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीप्त वातावरण न मान कर ऐसी चेतन सत्ता माना गया है जो अनादिकाल से मानव के साथ स्पन्दनों का आदान-प्रदान करती रही है। परन्तु फिर भी प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप छायावाद की मूल प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि स्पष्टतः छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं है; और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में प्रकृति का चित्रण नहीं है वरन् प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छाया-चित्र उठें उनका चित्रण है। जो प्रवृत्ति प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोपण करती है वह कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं है; वह मन की कुण्ठित वासना ही है जो अवचेतन में पहुँच कर सूक्ष्म रूप धारण कर प्राकृतिक

प्रतीकों के द्वारा अपने को व्यक्त करती है। निदान प्रकृति का उपयोग यहाँ दो रूपों में हुआ है। एक कोलाहलमय जीवन से दूर शान्त-स्निग्ध विश्राम-भूमि के रूप में और दूसरे प्रतीक रूप में। रूप, ऐश्वर्य और स्वच्छन्दता जो जीवन में नहीं मिल सके वह प्रकृति में प्रचुर मात्रा में मिले, अतएव कवि की मनोकामनाएँ बार-बार उसी के मधुर अंचल में खेलने लगीं और प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ जाने से स्वभावतः उसी के प्रतीक भी अधिक रुचिकर और प्रेय हुए।

मूल-दर्शन

वास्तव में जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा है, छायावाद मूलतः भारतीय अद्वैतवाद का ही प्रोद्भास है। महादेवी जी ने छायावाद का मूल-दर्शन सर्ववाद अथवा सर्वात्मवाद माना है, और वास्तव में प्रकृति के अन्तर में प्राणचेतना की भावना करना सर्वात्मवाद की ही स्वीकृति है। उन्होंने वैदिक ऋचाओं से समानान्तर उद्धरण देकर यह स्थापित किया है कि प्रकृति में स्पन्दित जीवन-चेतना की पहचान भारतीय कवि के लिए नवीन न होकर अत्यन्त प्राचीन है, सनातन से चली आ रही है। छायावाद में समस्त जड़-चेतन को मानव-चेतना से स्पन्दित मान कर अंकित किया गया है, और इस भावना को यदि कोई दार्शनिक रूप दिया जाएगा तो वह निश्चय ही सर्वात्मवाद होगा। सर्वात्मवाद को छायावादी कवियों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों विधियों से ग्रहण किया। आरम्भ में इन कवियों की चिंता-पद्धति पर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और उधर रवीन्द्रनाथ के दार्शनिक विचारों का सीधा प्रभाव पड़ा। निराला ने विवेकानन्द की कई कविताओं का अनुवाद किया है, रामकृष्ण परमहंस पर भी कविता लिखी है। पंत पर भी इनका गहरा प्रभाव था जो बाद में उन्हें योगी अरविन्द के दर्शन की ओर ले गया। प्रसाद ने योगदर्शन तथा उपनिषद् आदि का सम्यक् मनन किया था, महादेवी का भी भारतीय दर्शन के साथ आरम्भ से ही सम्पर्क था जो क्रमशः घनिष्ठतर होता गया। प्रौढ़ि के साथ यह प्रभाव और भी गहरा हुआ। पंत तथा महादेवी की बाद की रचनाओं में आध्यात्मिक रंग स्पष्टतः आ गया है, उसका निषेध आज सम्भव नहीं है।

परन्तु सर्वात्मवाद को छायावाद का उद्गम-स्रोत मानना संगत नहीं होगा। छायावाद का कवि आरम्भ से ही सर्वात्मवाद की आध्यात्मिक अनुभूति से प्रेरित नहीं हुआ। पल्लव, नीहार, परिमल, आंसू आदि की मूलवर्ती वासना अप्रयत्क्ष और सूक्ष्म तो अवश्य है परन्तु सर्वथा उदात्त और आध्यात्मिक नहीं

है। आज के बुद्धिजीवी कवि के लिए वासना को सूक्ष्मतर करना तो साधारणतः सम्भव है, परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति का होना उसके लिए सहज सम्भव नहीं है; और यह स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गत युद्ध के बाद जिन कवियों के हृदय से छायावाद की कविता उद्भूत हुई उन पर उस समय किसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति का आरोप नहीं किया जा सकता था। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद के कवियों की चेतना में नैतिक और आध्यात्मिक प्रभावों के कारण एक विशेष परिष्कार आरम्भ से ही था। इन कवियों ने कभी अपनी वासना को, उद्दाम रूप में व्यक्त नहीं किया—इनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों में शालीनता और संयम था। आरम्भ से ही उन्होंने जीवन में सूक्ष्म आंतरिक मूल्यों को ही महत्त्व दिया था। और फिर बाद में तो प्रसाद तथा महादेवी ने भारतीय अध्यात्म-दर्शन के सहारे और पंत ने देश-विदेश के विभिन्न दर्शनों के आधार पर अपनी चेतना को और भी परिशुद्ध एवं संस्कृत कर लिया।

यही बात रहस्यानुभूति के विषय में कही जा सकती है। बहिरंग जीवन से सिमट कर जब कवि की चेतना ने अन्तरंग में प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासाएं—जीवन और मरण-सम्बन्धी, प्रकृति और पुरुष-सम्बन्धी, आत्मा और विश्वात्मा-सम्बन्धी—काव्य में स्वभावतः ही आगईं। कुछ आध्यात्मिक क्षण तो प्रत्येक भावुक के जीवन में आते ही हैं। अतएव छायावाद की रहस्योक्तियां एक प्रकार से जिज्ञासाएं हैं जो छायावाद के उत्तरार्ध में आध्यात्मिक दर्शन के द्वारा और भी पुष्ट हो गई हैं। परन्तु वे धार्मिक साधना पर आश्रित नहीं हैं। उनका अधार कहीं भावना, कहीं दर्शन-चिंतन, और आरम्भ में कहीं कहीं मन की छलना भी है।

छायावाद के ये ही मूल तन्तु हैं। इन्हीं में अभिन्न रूप से गुथा हुआ आपको विषाद का नीला तन्तु भी मिलेगा जो असन्तोष और कुण्ठा का परिणाम है। परन्तु यह विषाद सन्ध्या की कालिमा न होकर प्रत्यूष की चित्रित नीहारिका है। इसमें घुमड़न है, पराजय नहीं। नीरजा के विषाद और निशा-निमन्त्रण के विषाद की तुलना मेरे आशय को स्पष्ट कर देगी। इसका कारण यह है कि छायावाद की दुनिया अननुभूत दुनिया थी। बच्चन के समय तक आकर वह अधिक जीवन-गत (अनुभूत) हो चुकी थी। अतः छायावाद की निराशा भी अननुभूत होने के कारण श्रान्त और जर्जर नहीं हो गई थी; वह स्पन्दित और स्फूर्त थी। छायावाद के चिर-उपहसित पीड़ा-प्रेम का यही व्याख्यान है।

भ्रान्तियाँ

छायावाद के विषय में तीन प्रकार की भ्रांतियाँ हैं :--

पहला भ्रम उन लोगों ने फैलाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं कर पाते। आरम्भ में छायावाद का यही दुर्भाग्य रहा। उस समय के आलोचक इसी भ्रम का पोषण करते हुए उसे कोसते रहे। यद्यपि आज यह भ्रम प्रायः निर्मूल हो गया है तो भी छायावाद के कतिपय कवि और समर्थक छायावाद के सुकुमार शरीर पर से आध्यात्मिक चिंतन का मृगचर्म उतारने को तैयार नहीं हैं। रामकुमारजी आज भी कबीर के योग की शब्दावली में अपने काव्य का व्याख्यान करते हैं। महादेवीजी की कविता के उपासक अब भी प्रकृति और पुरुष के रूपकों में उलझे-बिना उसका महत्व समझने में असमर्थ हैं। यहाँ तक कि स्वयं महादेवीजी ने भी छायावाद के ऊपर सर्वात्मवाद का भारी बोझ लाद दिया है।

इसके विरोध में, जैसा मैंने अभी कहा, एक प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि छायावाद एक बौद्धिक युग की सृष्टि है। उसका जन्म साधना से-- यहाँ तक कि अखण्ड आध्यात्मिक विश्वास से भी--नहीं हुआ। अतएव उसके रूपकों और प्रतीकों को यथा-तथ्य मानकर उस पर रहस्य-साधना अथवा रहस्यानुभूति का आरोप करना अनर्थ करना है, भ्रान्तियों का पोषण करना है।

दूसरी भ्रान्ति उन आलोचकों की फैलाई हुई है जो मूल-वर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियों का अध्ययन न कर सकने के कारण--और उन अपराधियों में मैं भी हूँ--केवल बाह्य साम्य के आधार पर छायावाद को यूरोप के रोमांटिक काव्य-सम्प्रदाय से अभिन्न मानकर चले हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है, और दोनों की परिस्थितियों में भी जागरण और कुण्ठा का मिश्रण है। परन्तु फिर भी यह कैसे भुलाया जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है! जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था वहाँ रोमांटिक काव्य के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था, जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जागृत देशों में एक नवीन आत्म-विश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहाँ के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था; उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उनकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तर्मुखी एवं वायवी था।

तीसरे भ्रम को जन्म दिया है आचार्य शुक्ल ने, जो छायावाद को शैली का एक तत्वमात्र मानते थे। उनका मत है कि विदेश के अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद आदि की भाँति छायावाद शैली का एक प्रकार-मात्र है।

इस भ्रम का कारण है शुक्लजी की वस्तु-परक दृष्टि, जो वस्तु और अभिव्यंजना में निश्चित अन्तर मानकर चलती थी। वास्तव में उन दो-चार इने-गिने सम्प्रदायों को छोड़ कर जो जान-बूझ कर शैली-गत प्रयोगों को लेकर चले हैं, कोई भी काव्यधारा केवल अभिव्यंजना का प्रकार नहीं हो सकती। जिन अभिव्यंजनावाद और प्रतीकवाद का उन्होंने उल्लेख किया है वे भी शुद्ध टेकनीक के प्रयोग नहीं हैं; उनके पीछे भी एक विशिष्ट अनुकूल भाव-धारा और विचार-धारा है। प्रत्येक सच्ची काव्यधारा के लिए अनुभूति की अन्तःप्रेरणा अनिवार्य है और जहाँ अनुभूति की अन्तःप्रेरणा है वहाँ काव्य टेकनीक-मात्र का प्रयोग कैसे हो सकता है? छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है। उसके पीछे अनुभूति की अन्तःप्रेरणा असंदिग्ध है। उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता, भाव-पद्धति की विशिष्टता के ही कारण है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है: जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था और रीति-काव्य एक दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।

इस दृष्टिकोण का आधेय नव-जीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं के सम्मिश्रण से बना है, प्रवृत्ति अन्तर्मुखी तथा वायवी है और अभिव्यक्ति हुई है प्रायः प्रकृति के प्रतीकों द्वारा। विचार-पद्धति उसकी तत्वतः सर्वात्मवाद मानी जा सकती है। पर वहाँ से इसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली।

यह तो स्पष्ट ही है कि छायावाद का काव्य प्रथम श्रेणी का विश्व-काव्य नहीं है—कुण्ठा की प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती। प्रथम श्रेणी के काव्य की सृष्टि तो पारदर्शी कवि के द्वारा ही सम्भव है, जिसके लिए यह जीवन और जगत् अनुभूत हों और जो सत्य को प्राप्त कर चुका हो। परन्तु यह सौभाग्य संसार में कितनों को प्राप्त है? इसके अतिरिक्त, संसार का अधिकांश काव्य कुण्ठा-जात ही तो है। उसकी तीव्रता और वैभव-विलास का जन्म प्रायः कुण्ठा से ही तो होता है।

इस सीमा को स्वीकार कर लेने के उपरांत छायावाद को अधिक-से-अधिक गौरव दिया जा सकता है। और सच ही, जिस कविता ने जीवन के सूक्ष्मतम मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा द्वारा नवीन सौंदर्य-चेतना जगाकर एक वृहत् समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया; जिसने उसकी वस्तु-मात्र पर अटक जाने वाली दृष्टि पर धार रखकर उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश कर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और तरल-से-तरल भाव-वीचियों को पकड़ सके; जिसने जीवन की कुण्ठाओं को अनन्त रङ्ग वाले स्वप्नों में गुदगुदा दिया; जिसने भाषा को नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रु-हास और नवीन विभ्रम कटाक्ष प्रदान किये; जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल छाया-चित्रों से जगमग कर दिया; और अन्त में जिसने कामायनी का समृद्ध रूपक, पल्लव और युगान्त की कला, नीरजा के अश्रु-गीले गीत, परिमल और अनामिका की अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविता का गौरव अक्षय है! उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है।

: २ :

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता

आधुनिक हिन्दी कविता की एक अत्यंत प्रबल प्रवृत्ति उन कविताओं में मिलती है जो देशभक्ति का उच्चार हैं। इनके लिये राष्ट्रीय-सांस्कृतिक शीर्षक अधिक सार्थक तथा व्यापक होगा। ये कविताएं भी दक्षिण-पक्षीय विचारधारा के अन्तर्गत आती हैं। छायावाद में जहाँ गांधीवाद का सौंदर्य-चिंतन पक्ष मिलता है, वहाँ इन कविताओं में उसके भावात्मक और क्रियात्मक रूप की अभिव्यक्ति मिलती है।

इन कविताओं की मूल-भावना है देश-भक्ति। देश-भक्ति में प्राधान्य तो निस्संदेह "उत्साह" का ही है परन्तु उसमें राग का आधार भी वर्तमान है। देशभक्ति व्यक्ति-परक न होकर एक समष्टि-परक भाव है अर्थात् यह राग-मिश्रित उत्साह व्यक्ति के प्रति न होकर समष्टि के प्रति होता है। जब मनुष्य के राग-वृत्त का विस्तार होता है तो वह अपने व्यक्तित्व से परिवार, परिवार से ग्राम-नगर फिर प्रदेश-देश और इसके आगे विश्व तक व्यापक हो जाता है। यह वास्तव में स्व का विस्तार ही है, उसका निषेध नहीं है—देशभक्ति में स्व का वृत्त समग्र देश और उसके निवासियों तक विस्तृत हो जाता है। इस विस्तार-प्रक्रिया में राग के साथ उत्साह का मिश्रण भी हो जाता है क्योंकि देशवासियों के प्रति राग का अभिप्राय है उनके कष्टों का निवारण, उनकी सेवा-सहायता, उनके विकास का प्रयत्न; और ये सभी उत्साह-मूलक क्रियाएं हैं। इस प्रकार देशभक्ति में राग उत्साह के साथ मिलकर उदात्त रूप धारण कर लेता है।

हिन्दी में देशभक्ति की कविता का पृष्ठाधार अत्यंत विस्तृत है। वैसे तो मध्ययुग के विदेशी आक्रान्ता के विरुद्ध प्राणों पर खेल कर लड़ने वाले राजपूत वीर, जहाँ तक कि वे अपने राज्य की रक्षा के संकुचित उद्देश्य से नहीं लड़ते थे, निस्संदेह ही देशभक्त कहे जा सकते हैं, और उनकी इस उदात्त भावना का यशोगान करने वाली वीरगाथा-काल की कुछ कविता निश्चय ही देशभक्ति की कविता की कोटि में आती हैं, परन्तु उस युग में एक तो यह भावना अत्यंत

विरल है, दूसरे यह देशभक्ति के वर्तमान स्वरूप से भी अत्यंत भिन्न है। शौर्य्य अथवा वीर-भाव का प्रत्येक रूप देशभक्ति के अन्तर्गत नहीं आता। वैयक्तिक शौर्य्य जो अपने व्यक्तित्व एवं उससे सम्बद्ध हितों की संरक्षा के निमित्त प्रदर्शित किया जाता है, देशभक्ति नहीं है। वीरगाथा-काल के राजपूत राजाओं और सामन्तों का शौर्य्य प्रायः वैयक्तिक शौर्य्य ही था, वह अपने व्यक्तिगत गौरव अथवा अपने राज्य या अपने राजा के निमित्त प्रदर्शित किया जाता था। उस युग में देश एक इकाई नहीं था, राज्य ही एक इकाई था। इसीलिये ये राजा और सामन्त आपस में एक-दूसरे को भी इतना ही बड़ा शत्रु मान सकते थे जितना कि किसी विदेशी आक्रांता को। राज्य से वृहत्तर एक और इकाई थी---वह थी धर्म जो कभी-कभी भिन्न-भिन्न राजाओं को एक ध्वजा के नीचे संगठित कर सकती थी, परन्तु देश जैसी कोई संगठित इकाई नहीं थी। कहने का तात्पर्य यह है कि उस युग में राष्ट्रीयता की भावना हिन्दुत्व से आगे नहीं बढ़ सकी थी और उसका यह रूप शताब्दियों तक ऐसा ही बना रहा। छत्रसाल और शिवाजी में भी राष्ट्रीयता का अर्थ हिन्दुत्व ही था। भूषण और लाल की कविता में देशभक्ति के इसी रूप को वाणी दी गई है। परन्तु यह भावना भी कुल मिलाकर इतनी विरल थी कि रीतियुग में शृङ्गार की सहस्रधारा में तुरन्त ही विलीन हो गई, और पूरे दो सौ वर्ष तक फिर उसका कोई चिह्न नहीं मिला। आधुनिक राष्ट्रीयता का प्रथम उत्थान हमें सन् ५७ के विद्रोह में मिलता है। अंगरेज़ शासक के विरुद्ध हिन्दुस्तान की संगठित राष्ट्र-भावना का वह प्रथम आह्वान था और तभी से हमारी राष्ट्रीयता का जयनाद आरम्भ हो गया। अब पहली बार प्रदेश अथवा धर्म-सम्प्रदाय के संकुचित वृत्त से निकल कर राष्ट्रीयता ने समग्र देश को अंतर्भूत कर लिया। हिन्दी काव्य में यह युग भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध है। भारतेन्दु के समय तक सन् ५७ का ग़दर तो विफल हो चुका था परन्तु वह अपने पीछे एक राष्ट्रीय चेतना छोड़ गया था जिसका प्रभाव उस युग के विचारवान व्यक्तियों पर पड़ रहा था। फिर भी उस युग की देशभक्ति और राजभक्ति में एक प्रकार से समझौता था। अंगरेजी शासन ने शताब्दियों की अशांति और अराजकता का अंत करके कम से कम एक स्थिरता का वातावरण अवश्य उत्पन्न कर दिया था और उसके लिये जनता के मन में थोड़ी सी कृतज्ञता की भावना निश्चय ही वर्तमान थी। परन्तु इसके साथ ही विदेशी की दासता आत्म-सम्मान के लिए अत्यंत घातक थी। प्रत्येक मनस्वी भारतीय को इसकी आंतरिक ग्लानि थी, चाहे इस ग्लानि को अभिव्यक्त करने

का साहस अथवा आत्मबल उसमें रहा हो या न रहा हो। इस क्षति की पूर्ति के लिये वह अपने प्राचीन गौरव का आह्वान करता था। इस प्रकार देश में पुनरुत्थान का एक आन्दोलन शुरू हो गया था—राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द प्रभृति लोकनायक जिसका नेतृत्व कर रहे थे। यह ठीक ही है कि यह आन्दोलन प्रायः सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित था—राजनीतिक समस्याओं से उसने अपने आपको प्रायः अलग ही रखा था, परन्तु इस सीमित क्षेत्र में भी देशभक्ति की भावना की अभिव्यक्ति के लिये पर्य्याप्त अवकाश था। सामाजिक और सांस्कृतिक परतंत्रता के विरुद्ध जनमत जगाकर ये धर्मनायक राजनीतिक परतंत्रता के बन्धनों को शिथिल कर रहे थे। उत्तर मध्ययुग की चेतना और इस चेतना में थोड़ा बहुत साम्य अवश्य था—दोनों में हिन्दुत्व की प्रबल चेतना थी—परन्तु दोनों का अन्तर भी अत्यंत स्पष्ट है। शिवाजी और भूषण की हिन्दू-भावना जहाँ सर्वथा सामन्तवादी थी, वहाँ दयानन्द और राममोहन राय की हिन्दू भावना का स्वरूप सांस्कृतिक एवं सामाजिक था। शिवाजी और भूषण को जहाँ हिन्दू राज्य की चिन्ता थी, वहाँ दयानन्द को प्राचीन हिन्दू (आर्य) संस्कृति की पुनः स्थापना का आग्रह था। दयानन्द को भारत भूमि के प्रति अगाध प्रेम था; इसके अतिरिक्त भारत से उनका तात्पर्य काश्मीर से कन्याकुमारी और सीमाप्रदेश से आसाम तक विस्तृत समग्र देश का ही था। परन्तु इस देश को वे आर्यों (हिन्दुओं) का ही देश मानने को तैयार थे और आर्येतर जातियाँ और उनके धर्म तथा संस्कृतियाँ उनकी दृष्टि में भारत के लिये विदेशी थीं। वे आर्य-ध्वज के नीचे ही समग्र भारत की एकता की कल्पना कर सकते थे। भारतीय संस्कृति का अर्थ उनकी दृष्टि में अमिश्र आर्य संस्कृति ही था। इस प्रकार इस युग की राष्ट्रीयता मूलतः हिंदू (आर्य) राष्ट्रीयता थी, परन्तु उसका स्वरूप पहले से अधिक व्यापक एवं संस्कृत था, उसमें हिन्दू-राज्य से बृहत्तर हिन्दू-संस्कृति की एकता—अखंडता अंतर्भूत थी। इस युग की देशभक्ति के अंतर्गत (१) प्राचीन आर्य गौरव—वेद, शास्त्र, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, चन्द्रगुप्त, अशोक आदि का गौरव-गान; (२) विदेशी संस्कृति और सभ्यता के प्रति घृणा; और इधर (३) वर्तमान अधः पतन—विशेषतः सामाजिक अधःपतन, उदाहरण के लिये अनाचार, अशिक्षा, वर्णाश्रम की अव्यवस्था, अछूत और स्त्रियों की हीनावस्था के प्रति चिन्ता और विद्रोह आदि का समावेश था। उस समय भी एक ऐसी चिंतनधारा का आविर्भाव हो गया था जो समन्वय पर बल देती थी। इसमें हिन्दू, सिख, मुसलमान,

पारसी और क्रिस्तान सभी धर्मों और सम्प्रदायों के लोगों के लिये स्थान था, यह भारत को इन सभी की मातृ-भूमि मान कर एक विदेशी राज्य के विरुद्ध संयुक्त मोरचा बनाने का प्रयत्न कर रही थी । इस चिंताधारा की प्रतीक थी इंडियन नेशनल कांग्रेस, परन्तु अभी इसमें पर्याप्त शक्ति नहीं आई थी । अभी भारतीयता का वह अमिश्र रूप ही अधिक प्रभावशाली था । भारत में राष्ट्रीयता के द्वितीय उत्थान का सारतः यही स्वरूप था ।

राष्ट्रीयता के तृतीय उत्थान में कांग्रेस ने शक्ति प्राप्त कर ली थी और उसका नेतृत्व गाँधी जी के हाथ में आ गया था । यहाँ राष्ट्रीयता का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो गया था । राष्ट्र अब प्रादेशिकता, प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता आदि से ऊपर सम्पूर्ण हिन्दुस्तान की एक संगठित इकाई बन गया था और उसका राजनीतिक रूप भी स्पष्ट हो गया था । राजनीतिक चेतना सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना से आगे बढ़ गई थी । यह निश्चित हो गया था कि सभी विषमताओं का मूल कारण, चाहे वे सामाजिक हों या आर्थिक या नैतिक-सांस्कृतिक, विदेशी शासन है । गुलामी सबसे बड़ा अभिशाप है अतएव पूर्ण स्वराज्य के लिये संघर्ष राष्ट्रीयता का पहला अंग बन गया । सन् १९३१ के अधिवेशन का सर्व-सम्मति से स्वीकृत प्रस्ताव इसका प्रतीक है ।

स्वाधीनता का घोषणा-पत्र

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भाँति अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतंत्र होकर रहें, अपने परिश्रम का फल हम स्वयं भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक सुविधाएं प्राप्त हों जिससे हमें भी विकास का पूरा मौका मिले । हम यह भी मानते हैं कि यदि कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को उस सरकार के बदल देने या मिटा देने का भी अधिकार है । अंग्रेजी सरकार ने भारतवासियों की स्वतंत्रता का ही अपहरण नहीं किया है बल्कि उसका आधार भी गरीबों के रक्तशोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भारतवर्ष का नाश कर दिया है । अतः हमारा विश्वास है कि भारतवर्ष को अंग्रेजों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या स्वाधीनता प्राप्त कर लेनी चाहिए ।"

राष्ट्रीयता का यही वास्तविक स्वरूप है और आज भी अनेक समताओं और विषमताओं के रहते हुए भी उसका यही रूप बना हुआ है । हाँ, स्वतंत्रता

प्राप्ति के पहले और उसके बाद की देशभक्ति में पराजय और विजय का स्वर-वैषम्य स्पष्ट है, और वह स्वाभाविक भी है।

पृष्ठभूमि का विवेचन करने के उपरांत अब वर्तमान राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण अपेक्षित है। इस कविता की मूल भावना जैसा कि मैंने ऊपर कहा है देशभक्ति है, और देशभक्ति में राग और उत्साह का मिश्रण है। उत्साह उसके राष्ट्रीय स्वरूप का आधार है, और राग उसके मानवीय-सांस्कृतिक रूप का।

पराधीनता और दमन के विरुद्ध संघर्ष

इस उत्साह का सबसे प्रबल विस्फोट पराधीनता और दमन के विरुद्ध संघर्ष में मिलता है। भारत हमारा देश है, वह हमारी जन्मभूमि है, उसपर हमारा स्वत्व है। हमारी जन्मभूमि पर विदेशी आकर शासन करें अपने घर में ही हम बन्दी रहें यह घोर लज्जा की बात है। इस लौह-शृङ्खला को प्राणों की बलि देकर भी छिन्न-भिन्न करना होगा, भारत की आत्मा मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, निराला, नवीन, सुभद्रा कुमारी चौहान, दिनकर तथा सोहनलाल द्विवेदी आदि के स्वर में चीत्कार कर उठी।

मैथिलीशरण गुप्त :

भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में।
सिंधु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में॥

माखनलाल चतुर्वेदी :

बलि होने की परवाह नहीं, मैं हूँ कष्टों का राज्य रहे।
मैं जीता, जीता-जीता हूँ, माता के हाथ स्वराज्य रहे॥

निराला :

पशु नहीं वीर तुम,
समर-शूर क्रूर नहीं,
काल-चक्र में हो दबे
आज तुम राजकुँअर समर-सरताज!
पर क्या है, सब माया है--माया है।
मुक्त हो सदा ही तुम
बाधा-विहीन-बन्ध छन्द ज्यों!

दिनकर :

नहीं जीते जी सकता देख, विश्व में झुका तुम्हारा भाल।
वेदना मधु का भी कर पान आज उगलूँगा गरल कराल॥

भारत का ज्यों-ज्यों स्वातंत्र्य के प्रति आग्रह बढ़ा, त्यों-त्यों विदेशी शासन की दमन नीति भी उग्रतर होती गयी । पर इस दमन ने घृत की आहुति का काम किया और भारतीय युवक के हृदय में विद्रोह की ज्वाला और भी प्रचंड हो गयी । वह दिनकर की "हुंकार" में हुंकार उठा :

पौरुष को बेड़ी डाल पाप का अभय रास जब होता है ,
ले जगदीश्वर का नाम खड्ग कोई दिल्लीश्वर धोता है ।
धन के विलास का बोझ दुखी दुर्बल दरिद्र जब ढोता है ।
दुखिया को भूखों मार, भूप जब सुखी महल में सोता है ।
सहती सब कुछ मन मार प्रजा, कसमस करता मेरा यौवन ।

  

असि की नोकों से मुकुट जीत, अपने सिर उसे सजाती हूँ,
ईश्वर का आसन छीन, कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूँ ।
थर-थर करते कानून, न्याय, इंगित पर जिन्हें नचाती हूँ,
भयभीत पातकी धर्मों से अपने पग मैं धुलवाती हूँ ।
सिर झुका घमण्डी सरकारें करती मेरा अर्चन-पूजन ।

"नवीन" के स्वरों में देश ने आततायी के विरुद्ध अपनी जन-शक्ति को उद्‌बोधित किया :

ओ भिखमंगे, अरे पतित तू ओ मजलूम, अरे चिर-दोहित,
तू अखंड भंडार शक्ति का, जाग अरे निद्रा-सम्मोहित ।
प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारों से जल-थल भर दे,
अनाचार के अम्बारों में अपना ज्वलित फलीता भर दे ।

यह देश के उद्दीप्त यौवन की पुकार है । इन स्वरों में देश का आहत अभिमान जैसे बौखला उठा है । नवीन जी स्वतंत्रता संग्राम के कर्मठ सैनिक रहे हैं, उनका व्यक्तित्व निर्भीक शौर्य का प्रतीक है । उनकी वाणी तेज के स्फुलिंग उगलती है । आत्मा की वाणी होने के कारण इन कवियों की देशभक्ति की कविताओं में अपूर्व प्रभावक्षमता है । देश का युवक समाज इनको सुनकर हथेली पर प्राण ले घर से निकल पड़ा था ।

उत्साह का अहिंसक रूप

इस कविता की वीर-भावना में प्राचीन कविता की वीर-भावना से एक

अत्यंत स्पष्ट अन्तर है और वह यह कि इसमें विरोधी का संहार करने का उत्साह नहीं है। इसमें आक्रमण की भावना न होकर बलिदान की भावना है, और यह मूलतः अहिंसा का प्रभाव है। वर्तमान अहिंसा के दर्शन में कहीं न कहीं पराजय की प्रच्छन्न स्वीकृति निस्सन्देह वर्तमान है। भिन्न देशकाल में हमारा प्रतिनिधि जीवन-दर्शन कदाचित् यह न होता। वर्तमान राष्ट्रीय कविता में बलिदान के प्रति जो उत्कट उत्साह मिलता है उसके मूल में पराजय की यह अप्रत्यक्ष स्वीकृति असंदिग्ध है। इस युग की राष्ट्रीय कविता का यह एक सार्वभौम भाव है। भूषण और लाल जहाँ शिवाजी तथा छत्रसाल के विजय-पराक्रम का गौरव-गान करते हैं, उनके द्वारा शत्रु के संहार, तथा दमन के उल्लास और गर्व-भरे चित्र अंकित करते हैं, वहाँ माखनलाल चतुर्वेदी 'बलिशाला ही हो मधुशाला' का तराना छेड़ते हैं, शीशदान की महिमा गाते हैं :

बलि के कम्पन में जो आती भटकी हुई मिठास,
यौवन के बाजीगर, करता हूँ उस पर विश्वास। (हिमकिरीटिनी)

  

रक्त है ? या है नसों में क्षुद्र पानी !
जांच कर, तू सीस दे दे कर जवानी ? (हिं० कि०)

मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, नवीन, दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, शिवमंगलसिंह सुमन,—सभी ने देशभक्ति के प्रसंग में प्राणदान का महत्व गान किया है।

धर्म तुम्हारी ओर, तुम्हें फिर किसका भय है ?
जीवन में ही नहीं, मरण में भी निज जय है।
(गुप्त : साकेत)

चढ़ चल, चढ़ चल थक मत रे ! बलिपथ के सुन्दर जीव।
उच्च कठोर शिखरके ऊपर, है मंदिर की नींव।
बड़े-बड़े ये शिला-खंड मग रोके पड़े अचेत।
उन्हें लांघ तू यदि जाना है, तुझे मरण के हेत।
(माखनलाल चतुर्वेदी—हिमकिरीटिनी)

सुनूंगी माता की आवाज़,
रहूँगी मरने को तैयार।

कभी भी उस वेदी पर देव,
न होने दूंगी अत्याचार ॥
न होने दूंगी अत्याचार,
चलो मैं हो जाऊँ बलिदान ।
मातृ मंदिर में हुई पुकार,
चढ़ा दो मुझको हे भगवान ॥

(सुभद्रा कुमारी चौहान : मुकुल)

आँसू बिखराते बीतेंगी,
जलती जीवन घड़ियाँ ।
बिना चढ़ाये शीश, नहीं,
टूटेंगी माँ की कड़ियाँ ।

(सोहनलाल द्विवेदी :—भैरवी)

शीशदान के इस महत्व की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है। एक तो शीशदान अपने आप में वीर भाव का सबसे प्रबलतम रूप है । वीर रस का शत्रु रस है भयानक अर्थात् उत्साह का भय के साथ घोर विरोध है। भय का चरमाभाव उत्साह का चरमोत्कर्ष है और भय का चरमाभाव मृत्यु-भय पर विजय प्राप्त करना है। अतएव शीश-दान के प्रति उत्साह उत्साह का चरमोत्कर्ष है। शीश-दान का यह महत्व कोई नई बात नहीं थी। "हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गम्" का मंत्र इस देश के लिये नया नहीं था। मध्ययुग में भी क्षत्रिय के लिये हथेली पर शिर रख कर जीना ही शोभन माना जाता था :

बारह बरस लों कूकर जीवें और सोरह लों जियें सियार,
बरस अठारह छत्री जीवें, आगे जीवन को धिक्कार ।

वास्तव में अहिंसा वीरता का उज्ज्वलतम रूप है, और गांधी जी से बड़ा वीर इस युग ने उत्पन्न नहीं किया। दूसरे, राजनीतिक परिस्थितियाँ भी शीशदान के इस महत्व के लिये उत्तरदायी हैं। मेरी धारणा है कि अपना जीवन-सिद्धांत बनाने से पूर्व गांधी जी ने अहिंसा को निश्चय ही नीति के रूप में ग्रहण किया होगा। उन परिस्थितियों में संघर्ष का दूसरा रूप समीचीन नहीं था। सर्वथा निश्शस्त्र देश के लिए हिंसात्मक क्रांति किसी प्रकार भी श्रेयस्कर नहीं हो सकती थी। भौतिक बल के अभाव में क्रांतदर्शी नेता ने देश को आत्मिक बल-संचय की प्रेरणा दी—यह उसके नय और आदर्श दोनों ही थे।

भौतिक बल से आत्मिक बल का प्रभाव कहीं अधिक है यह समझने में भारत जैसे देश को देर नहीं लगी, और वह मार कर नहीं मर कर विजय प्राप्त करने के लिये उत्साहित होने लगा। इस प्रकार आधुनिक देशभक्ति की कविता में क्रोध नहीं है आक्रोश है। फलतः इस वीर रस का सहचारी करुण है, रौद्र नहीं।

इसके उत्साह का एक रचनात्मक रूप भी था जो भारत के उत्कर्ष—उसके स्वर्णिम भविष्य के भावन में अभिव्यक्त होता था। स्वतंत्रता से पूर्व हिन्दी के राष्ट्रीय कवियों ने भारत के मुक्ति-स्वर्ग के अगणित चित्रों द्वारा जनता के विषाद-संकुल मन में स्फूर्ति और उत्साह भर कर राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण योग दिया। एक ओर जहाँ उन्होंने वर्तमान के रौरव चित्र अंकित किये, वहाँ दूसरी ओर उनके परिमार्जन के लिये भविष्य की उज्ज्वल कल्पनाएं कीं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने परम पिता से स्वतंत्रता के जिस स्वर्ग में अपने देश को जगाने की प्रार्थना की थी हिन्दी के कवियों ने भी उसके शत-शत चित्र अंकित किये :

रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आराधित
श्रेणि-वर्ग में मानव नहीं विभाजित,
धन बल से हो जहाँ न जन-श्रम शोषण
पूरित भव-जीवन के सकल प्रयोजन।

  

मुक्त जहाँ मन की गति, जीवन में रति,
भव-मानवता में जन-जीवन परिणति।
संस्कृत वाणी, भाव, कर्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हों जनवास, वसन सुन्दर तन।
ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित।

इन कविताओं में सात्विक गर्व और ओज है। खोये हुए स्वातंत्र्य और गौरव को प्राप्त कर देश फिर से महिमामंडित हो जायेगा जब यह भूमि अपनी होगी और आकाश भी अपना ही होगा। इन कविताओं में ध्वंस के स्थान पर निर्माण के भव्य चित्र हैं।

इनके द्वारा देश के नवयुवकों को निराशा और विषाद का परित्याग कर कर्मण्यता की प्रेरणा मिली। इन कविताओं का आधार आस्तिकता है, अतएव इनमें आग और गरल नहीं है एक भव्य दीप्ति है।

देशभक्ति का रागात्मक स्वरूप

देश के साथ रागात्मक सम्बन्ध दो रूपों में सम्भव है। इनमें सहज रूप तो वह है जिसमें देश का अर्थ होता है देशवासी। इसके अनुसार देश-प्रेम का अर्थ है देशवासियों के प्रति प्रेम, देश की पराधीनता और शोषण का अर्थ है देशवासियों की पराधीनता और शोषण और देश की मुक्ति का अर्थ है राजनीतिक और आर्थिक शोषण से देशवासियों की मुक्ति। भारत की दीन-दुखी, अशिक्षित और असहाय जनता के प्रति करुणा जगाने वाली अनेक कविताएं इसी वर्ग में आती हैं। किसान, मजदूर और ग्राम का अशिक्षित भूखा-नंगा जन-समुदाय काव्य का आलम्बन बना। उसकी निर्धनता, मूढ़ता, विवशता तथा उसके आधिदैविक और आधिभौतिक कष्टों के अनेक सच्चे-झूठे करुण चित्र अंकित किये गये, उसे अपने कर्तव्य और अधिकार के प्रति जागरूक करके दमन और शोषण के विरुद्ध संगठित करने के लिये उत्साह-पूर्ण कविताएं लिखी गईं—बंगाल के अकाल के दिनों में एक काव्य-आन्दोलन ही आरम्भ हो गया था। इनमें विदेशी आक्रान्ता के प्रति ही नहीं, भारत में उसके एजण्ट—अत्याचारी पूँजीपतियों और जमीदारों आदि के प्रति भी—आक्रोश की भावनाएं मुखरित की गईं। इस प्रकार एक नवीन जन-काव्य का जन्म हुआ। पहले इसका आधार राष्ट्रवाद और मानववाद था परन्तु बाद में समाजवाद और साम्यवाद के प्रभाववश इसमें उग्र वर्ग-भावना का भी समावेश हो गया। मानववाद अपने स्थान से खिसक गया—वर्गवाद उसमें अड़ने लगा। सियारामशरण गुप्त, नवीन, सोहनलाल द्विवेदी आदि की कविताएं जहां राष्ट्रवाद और मानववाद के व्यापक आधार को लेकर लिखी गई हैं, वहां नरेन्द्र, शिवमंगल सिंह सुमन और अंचल आदि में वर्ग-चेतना स्पष्ट है।

रागात्मक सम्बन्ध का दूसरा रूप वह है जिसमें देश जड़ प्रतीक न रह कर सजीव एवं मूर्तिमंत हो जाता है। सजीव मूर्त रूप धारण किये बिना केवल भौगोलिक मानचित्र प्रेम अथवा भक्ति का विषय कैसे बन सकता है? स्वभावतः एक ओर भारत की दिव्य मातृरूप में कल्पना की गई, दूसरी ओर उसके हिमालय, गंगा, प्रयाग, दिल्ली, चित्तौड़, हल्दीघाटी आदि से सम्बद्ध परंपरागत मानव संस्कारों को उद्बुद्ध किया गया। भारत की दिव्य मातृभूमि के शतशत भव्य-चित्र हमारी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता की अमूल्य निधि हैं। मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, नवीन, निराला, पन्त, दिनकर आदि सभी प्रमुख कवियों ने मातृभूमि के दिव्य

चित्रों का अंकन कर अपनी कल्पना को पवित्र किया है। इनकी पृष्ठभूमि में बंकिम-रचित विविध-रूपा मातृभूमि और रवीन्द्र-अंकित भारत का उदार चित्र था। मैथिली बाबू ने इस चित्र को और भी बृहत्तर भौगोलिक विराट्ता प्रदान की। त्रिंशकोटि भारतवासी अपनी वर्तमान हीनता को भूल कर इस विराट् रूप के सम्मुख आत्म-विभोर हो उठे। आस्तिक कवि और आगे बढ़ा और गीता के विराट् रूप के आधार पर उसने मातृभूमि को सर्वेश की मूर्ति से एकरूप कर दिया।

निराला ने "भारति, जय विजय करे" में भी माता का यही देवीरूप अंकित किया है :

लंका पदतल शतदल, गर्जितोर्मि सागर जल,
धोता शुचि चरण युगल, स्तव कर बहु अर्थ भरे।
मुकुट शुभ्र हिम तुषार, प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशाएं उदार, शत-मुख शतरव मुखरे।

इस चित्र में मन्दिर का वातावरण और भी मुखर हो गया है। उधर कवि पन्त ने भारत माता को ग्राम-वासिनी के करुण-स्निग्ध रूप में अंकित करदेश की ग्राम-जनता की भावना को वाणी दी :

भारत माता ग्राम-वासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल-भरा मैला-सा आंचल
गंगा यमुना में आँसू जल
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी।

इसमें देश का विराट्-उज्ज्वल चित्र नहीं है, उसका वर्तमान धूलभरा और उदास ग्राम्य चित्र है जो आज की वस्तु-निष्ठ कल्पना के अधिक निकट है। इस चित्र में रोमानी रूप-रंग का औज्ज्वल्य नहीं है, इसमें आज के मटमैले रंग हैं। पन्त जी ने भारत के रोमानी विराट्-उज्ज्वल चित्र भी दिये हैं जो "जन भारत हे" तथा उनके नवीन राष्ट्र-गानों में उद्भासित हुए हैं। पन्त जी ने अपने दोनों प्रकार के चित्रों में भारत के शान्ति-अहिंसा-मय रूप पर ही बल दिया है।

भारत के साथ हिमालय, गंगा, यमुना, सिन्धु, पाटलीपुत्र, कपिलवस्तु, प्रयाग, दिल्ली, पानीपत, आदि उसके अनेक अंग भी अपना पृथक् राष्ट्रीय-सांस्कृतिक महत्व रखते हैं। उनके साथ भारतीयों की शत-सहस्र वर्षों की स्मृतियाँ

लिपटी हुई हैं। देशभक्ति की कविता के अंतर्गत इन विषयों पर लिखी हुई अनेक स्फुट और निबद्ध रचनाएं आती हैं। दिनकर की हिमालय, पाटलीपुत्र की गंगा, दिल्ली आदि कविताएं हिन्दी में पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुकी हैं।

भारत का यह दिव्य मूर्तिकरण अतीत गौरव की शत-शत स्वर्णस्मृतियों को लपेटे हुए है। स्वभावतः ही इसके साथ देश की प्राचीन संस्कृति और वैभव का स्तवन भी बड़े अनुराग और उत्साह के साथ किया गया। भारत का अतीत सभी दृष्टियों से महान और गौरव-मंडित है। भारत का प्राचीन समृद्धि-वैभव, शौर्य-पराक्रम, दया-दाक्षिण्य, ज्ञान-गरिमा, जीवन-दर्शन, सभी अत्यन्त भव्य हैं। भारत की विराट्-उज्ज्वल मूर्ति के प्रतिष्ठान के साथ उसके प्राचीन गौरव का पुनरुत्थान भी आरम्भ हुआ। देशभक्ति-काव्य का यह प्रसंग कविता की दृष्टि से सबसे समृद्ध है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि उस प्राचीन युग में ही वैभव और समृद्धि की रंगीनी और औज्ज्वल्य है जो तत्कालीन साहित्य में प्रतिबिम्बित होकर हिन्दी कवियों को सहज ही प्राप्त हो गई। इस प्रकार हिन्दी की विकासशील रोमानी कल्पना को उसमें खुल खेलने का विस्तृत क्षेत्र मिला। दूसरे वहां उदात्त भावनाओं के लिये भी पूर्ण अवकाश था। प्रागैतिहासिक काल में वैदिक युग के आर्यों का बल-वीर्य और ज्ञान-गौरव, रामायण और महाभारत के युगों की जीवन-सम्पूर्णता और तज्जन्य आदर्श, इधर ऐतिहासिक काल में चन्द्रगुप्त मौर्य, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य आदि सम्राटों का शौर्य-पराक्रम, अशोक और हर्ष जैसे सम्राटों की त्याग-तितिक्षा, और बुद्ध की मानव-करुणा, इन सबमें जीवन की शतरूपा समृद्धि मिली, और हिन्दी के वर्तमान कवि की हीन-क्षीण भावना उसमें प्रचुर पोषण और बल प्राप्त कर सकी। वर्तमान की क्षतिपूर्ति के लिये अतीत में प्रचुर साधन मिल गये। देशभक्ति और स्वातन्त्र्य की जिन भावनाओं को प्रस्तुत रूप में व्यक्त करने का साधन नहीं था, उन्हें अप्रस्तुत माध्यम से स्वच्छन्दतापूर्वक व्यक्त किया जा सकता था। हार्डिन्ज, विलिंगडन आदि को भारत से निष्क्रांत करने की सीधी चर्चा के लिये जहां कारावास का दण्ड था, वहां सिल्यूकस या हूण-शक आदि को निष्क्रांत करने का वर्णन पूर्ण ओज और स्पष्टता के साथ किया जा सकता था। इस प्रकार प्राचीन गौरव-गान के व्याज से वर्तमान देशभक्ति की भावनाओं को व्यक्त करने का सम्यक् अवकाश मिला।

इस विषय पर प्रायः सभी राष्ट्रीय कवियों ने लिखा। मैथिली बाबू ने रामायण और महाभारत काल के कथानकों पर नवीन राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना

का आरोप किया। अन्य कवियों ने भी प्राचीन विषयों पर देशभक्ति की कविताएं लिखीं—गुप्त और राजपूत काल के वीरों की देशभक्ति का यशोगान किया। प्रसाद, निराला, दिनकर, हरिकृष्ण प्रेमी, सोहनलाल द्विवेदी, श्याम-नारायण पांडेय, सुधीन्द्र आदि की अनेक कविताएं उदाहरण रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ स्फुट कविताओं में भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के विकास के अत्यन्त प्रभावपूर्ण चित्र अंकित किये गये हैं। श्री नवीन की प्रसिद्ध कविता "हिन्दुस्थान हमारा है" और स्कन्दगुप्त नाटक में प्रसाद के प्रसिद्ध आह्वान-गीत "हिमालय के आंगन में जिसे प्रथम किरणों का दे उपहार" आदि में, भारतीय संस्कृति के विकास का सुन्दर पुनरालोकन है। ये दोनों कविताएं विषय के अनुरूप ही हैं।

प्राचीन गौरव की पुनरुत्थानमयी भावना में स्वभावतः आर्य-संस्कृति का ही जय-जय-कार है। परन्तु यह भावना कहीं भी संकीर्ण तथा सांप्रदायिक नहीं होने पाई। संस्कृति का यह स्वरूप अत्यंत व्यापक और उदार है। वास्तव में स्वयं संस्कृति शब्द में संकीर्णता के लिये स्थान नहीं है। संस्कृति का मूल तत्व है आत्मा का संस्कार जिसमें क्षुद्रता के लिये अवकाश ही नहीं रहता। इसमें प्रायः अपने गौरव का ही भावन है दूसरे की हीनता का नहीं। भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास को देखते हुए इस प्रसंग में थोड़ी बहुत कटुता का समावेश हो जाना अस्वाभाविक नहीं था। परन्तु इस सांस्कृतिक विचारधारा पर गांधी के "सर्व-धर्म-समभाव" सिद्धांत और रवीन्द्र की अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा विश्व-संस्कृति की कल्पना का गहरा प्रभाव था जिसने जाति, सम्प्रदाय और देश से बृहत्तर इकाई—विश्व मानवता—की उदार भावनाओं को जन्म दे दिया था। इसके अतिरिक्त एक और प्रभाव—समान सर्वहारा संस्कृति का प्रभाव—भी कुछ-कुछ पड़ने लगग या था, परन्तु उसका स्वरूप अभी प्रच्छन्न ही था। कहने का तात्पर्य यह है कि इस युग में जिस राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विकास हो रहा था उसमें प्राचीन आर्य-संस्कृति के पुनरुत्थान की भावना निस्संदेह थी—वास्तव में इसका मूल आधार वही था। परन्तु इसमें संकीर्णता तथा कटुता नहीं थी। इसका आधार स्वभावतः ही अत्यंत व्यापक था, इसके मूल में ही "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का सिद्धांत वर्तमान था, फिर गांधी और रवीन्द्र के सार्वभौम विचारों का गहरा प्रभाव इसके ऊपर पड़ रहा था। इस प्रकार आज से वर्षों पूर्व परतंत्र दशा में भी भारत के भाव-जगत में एक ऐसी विश्व-संस्कृति की कल्पना रूप धारण कर रही थी जिसमें जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, वर्ग, देश, और पूर्व-पश्चिम की सीमाएं

नहीं थीं जिसका आधार थी मानवता——अपने सम्पूर्ण आत्मिक वैभव के साथ।

राष्ट्रीय कविता के इतिहास में १५ अगस्त १९४७ का दिन अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह भारत का स्वतंत्रता-दिवस था। इसके बाद राष्ट्रीय कविता का स्वर एक साथ बदल गया। पराजय और बलिदान का स्वर विजय-घोष में परिणत हो गया। इस पुण्य-पर्व के उपलक्ष्य में अनेक राष्ट्रीय मंगल-गान लिखे गये जिनमें पंत, सियारामशरण गुप्त और दिनकर की रचनाएं सबसे अधिक महत्वपूर्ण थीं। पंत और सियारामशरण दोनों के मंगल-गान एक निर्मल पुण्य भाव से प्रेरित हैं। उनमें गर्व तथा औद्धत्य का स्पर्श भी नहीं है——शताब्दियों का विष जैसे सर्वथा निश्शेष होगया हो। अशोक-चक्रधारी भारत की जयध्वनि तो विश्व-शांति की घोषणा है :

भारत हे ! तेरी जयध्वनि में
विश्व-शांति की उद्घोषणा-सी है अवनि में।

  

तूने किया घोषित भुजा पसार
एक ही कुटुम्ब विश्व भर का।
भारत, अभारत हे अभिलाभ,
एक स्वर से अथक
गौतम से बापू तक
तेरा यही पौरुष परम है,
जीवन की एक यही साधना चरम है,
बंधन से मुक्ति लाभ।

(सियारामशरण : जय हिन्द)

वास्तव में भारत ने अपनी विजय को एक देश की बंधन-मुक्ति के रूप में नहीं मनाया, उसने अपनी मुक्ति को साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद से सभी परतंत्र देशों की मुक्ति का प्रतीक माना। भारतीय प्रधान मंत्री के उस समय के सभी भाषणों में बार-बार यह घोषणा की गई है :

हो भारत-स्वातंत्र्य विश्व-हित स्वर्ग-जागरण। (पंत)

  

भारत स्वतंत्र है, स्वतंत्र सभी जब हों। (सियारामशरण)

भारत की विजय भौतिक विजय नहीं है वह आत्मिक विजय है क्योंकि वह शस्त्र की विजय नहीं है, वह तो सत्य और अहिंसा की विजय है :

सभ्य हुआ अब विश्व, सभ्य धरणी का जीवन,
आज खुले भारत के सँग भू के जड़ बंधन।
शांत हुआ अब युग-युग का भौतिक संघर्षण,
मुक्त चेतना भारत की यह करती घोषण॥

❀ ❀ ❀

नवजीवन का वैभव जागृत हो जनगण में,
आत्मा का ऐश्वर्य्य अवतरित मानव-मन में!
रक्त-सिक्त धरणी का हो दुःस्वप्न समापन,
शांति प्रीति सुख का भू स्वर्ग उठे सुर मोहन!

(पंत—स्वर्ण-धूलि)

इस संयत जयनाद के दो कारण थे। एक तो भारत का दृष्टि-कोण ही इसके लिये उत्तरदायी था। सत्याग्रह और अहिंसा के द्वारा प्राप्त की हुई स्वतंत्रता का जयनाद उद्धत या गर्वित हो भी कैसे सकता था ? इसके अतिरिक्त तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का भी यही अनुरोध था। यह स्वतंत्रता देश के विभाजन और उसके फलस्वरूप भीषण नर-संहार और भयंकर विस्थापन के साथ ही देश को मिली थी। उधर विदेशी राज्य भी अनेक आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याएं देश के लिये छोड़ गया था। निदान, जय का यह स्वर हाहारव से अमिश्रित नहीं था। अतएव व्यष्टि और समष्टि दोनों के ही धरातल पर देश के विजय-स्वर पर तत्कालीन करुणा और चिंता की छाया थी। विभाजन के परिणाम-स्वरूप साम्प्रदायिक भावना का अनायास ही फिर उभर आना स्वाभाविक था, और वास्तव में ऐसा हुआ भी। परन्तु बापू के बलिदान ने उसे एक दम दबा दिया। उसका प्रभाव कुछ सामयिक रंग की हल्की-फुलकी कविताओं पर ही पड़ सका। गंभीर साहित्य तक आने से पहले ही वह दब गई। इधर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत के वर्धमान महत्व ने इस तरह की भावना के लिये और भी अवकाश नहीं छोड़ा; और भारत का राष्ट्रीय दृष्टिकोण अधिकृत रूप से उदार और व्यापक ही होता गया। विश्व-संस्कृति के उसके स्वप्न विश्व के निकट सम्पर्क में आकर पंत जैसे कवियों की वाणी में स्पष्ट और व्यक्त होने लगे। आज विसंवादी स्वर नहीं है, यह कहना मिथ्या होगा। साम्प्रदायिक और वामपक्षीय स्वर बराबर सम भंग कर रहे हैं—इस

प्रकार की कविता और कहानियाँ आदि लिखी जा रही हैं जिनमें यह शिकायत है कि आज भी जनता आर्थिक तथा राजनीतिक बंधनों में जकड़ी हुई है, इत्यादि। परन्तु ये स्वर अत्यंत क्षीण हैं। हिन्दी काव्य के प्रतिनिधि स्वरों में आज भी इस प्रकार की निषेधात्मक आलोचना से मुक्त स्वास्थ्य और आशा का संदेश है।

प्रवृत्तियों के विश्लेषण के उपरांत इस वर्ग की रचनाओं के काव्यगुण का मूल्यांकन अपेक्षित है। यह तो स्वाभाविक ही है कि जिस प्रकार पिछले आंदोलनों में भाग लेनेवाला अथवा जेल जानेवाला प्रत्येक व्यक्ति सच्चा देश-भक्त भी नहीं था सच्चा मनुष्य होना तो और आगे की बात थी, उसी प्रकार इस वर्ग की प्रत्येक रचना सच्ची देशभक्ति से भी अनुप्राणित नहीं है, सच्ची कविता होना तो दूर रहा। वास्तव में इस काव्य का सम्बन्ध आन्दोलन से रहा है और आन्दोलन से सम्बद्ध काव्य प्रायः सामयिक तथा उत्तेजक ही होता है उसमें स्थिर प्रभाव-क्षमता नहीं होती।

आन्दोलन का अभिधार्थ है हलचल—किसी उद्देश्य विशेष को लेकर जो सामूहिक प्रचार एवं प्रयत्न किया जाता है वह आन्दोलन कहलाता है। यह उद्देश्य साधारणतः वाह्य तथा स्थूल होता है—कम से कम उसका स्वरूप स्थूल अवश्य होता है। यों तो आन्दोलन का विषय खाद्य-समस्या अथवा अधिक अन्न उपजाओ, या विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार या इससे भी अधिक स्थूल एवं तात्कालिक हो सकता है। और उधर, यह अत्यंत सूक्ष्म भी हो सकता है, जैसे भक्ति का आंदोलन या उसके अन्तर्गत भी निर्गुण विचारधारा के विरुद्ध सगुण की प्रतिष्ठा का आन्दोलन। परन्तु, मूल रूप में यह उद्देश्य चाहे कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, आन्दोलन के स्तर पर उतर कर इसे एक स्थूल एवं वाह्य रूप धारण करना ही होगा। क्योंकि आन्दोलन का कार्य हृदय के तारों को छू कर प्रवृत्ति को रमाना नहीं होता—उसके लिये समय ही उसके पास नहीं है, वह तो तात्कालिक प्रभाव डालकर रौ में बहा देना चाहता है। उसकी सफलता इसी में है—आन्दोलन तो अपने समूह-बल से आगे को धक्का देता है।

इधर, साहित्य का उद्देश्य है व्यक्तित्व का संस्कार—उसका कर्त्तव्य-कर्म है आत्माभिव्यक्ति, और उसकी विधि है सहज आनन्दमयी। साहित्य मूलतः व्यक्तिगत प्रयत्न है। इस प्रकार मेरे विचार में आन्दोलन और साहित्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है क्योंकि इन के उद्देश्य, इनके कर्त्तव्य-कर्म और इनकी विधि तीनों में ही अन्तर है। आन्दोलन जहां तात्कालिक एवं

वाह्य-स्थूल उद्देश्य को लेकर चलता है वहां साहित्य का उद्देश्य निसर्गतः सूक्ष्म-आंतरिक एवं शाश्वत होता है। (कभी-कभी साहित्य का भी तात्कालिक प्रभाव पड़ता है परन्तु वह उसकी सिद्धि नहीं है, और उससे उसका मूल्य भी नहीं आंकना चाहिये। उदाहरणार्थं बिहारी का जयसिंह के प्रति निवेदित प्रसिद्ध दोहा लिया जा सकता है। तत्कालिक प्रभाव उसकी एक सामाजिक सफलता थी—साहित्यिक सफलता उस की यह है कि उसने जीवन में सरसता बनाये रखने में योग दिया और आज तक भी देता आ रहा है।) आंदोलन का कर्तव्य-कर्म है किसी आवश्यक्ता विशेष की पूर्ति के लिये जनमत प्राप्त करना–जनता को अपने साथ बहा ले चलना। साहित्य का कर्तव्य-कर्म है व्यक्ति का जगत के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना—पहले साहित्यकार साहित्य के माध्यम से अपने व्यक्तित्व के प्रतिफलन द्वारा ऐसा करता है, उसके उपरांत सहृदय भी साहित्य के माध्यम से अपने व्यक्तित्व का प्रतिफलन करता हुआ शेष जगत के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। आन्दोलन अनुसरण चाहता है, साहित्य रागात्मक सम्बन्ध। और इसी के अनुरूप दोनों की विधि में भी अंतर है। आन्दोलन की विधि है उत्तेजना की, उथल-पुथल की; साहित्य की विधि है आनन्द की, तन्मयता की। क्योंकि आन्दोलन कर्म है और साहित्य भावन। आन्दोलन सामूहिक प्रयत्न है साहित्य व्यक्तिगत।

लेकिन, काव्य इस प्रकार के देशव्यापी आन्दोलन से सर्वथा अस्पृष्ट रहे यह भी सम्भव नहीं है। आन्दोलन का प्रभाव काव्य पर छन कर पड़ता है। इन आन्दोलनों का जो हिलाने वाला या बहा ले जाने वाला रूप होता है, उससे काव्य का सीधा सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि जैसा कि मैंने अभी कहा काव्य की आत्मा इतना कोलाहल नहीं सहन कर सकती। प्रदर्शन आन्दोलन का एक अनिवार्य अंग है—परन्तु काव्य का वह दूषण है। अतएव, काव्य में आन्दोलन का, प्रदर्शन—तात्कालिक उत्तेजना आदि से मुक्त, स्थायी रागात्मक रूप ही आ सकता है। आन्दोलन जब एक सामयिक आवेश-प्रवाह न रह कर स्थिर भाव-भूमि का रूप धारण कर लेता है तभी उसका प्रभाव कवि की अंतश्चेतना तक पहुँच सकता है। इससे पहले वह कवि के कंठ तक ही पहुंच पाता है, और केवल कंठनाद के रूप में ही अभिव्यक्ति पा सकता है।

इस युग के भिन्न–भिन्न आन्दोलनों के साथ भी यही हुआ। सुधार आन्दोलन, खि़लाफ़त आन्दोलन, सत्याग्रह आन्दोलन, आतंकवादी अथवा अन्य हिंसक क्रान्ति के आन्दोलन, ४२ की क्रान्ति, आजाद हिन्द फ़ौज सम्बन्धी

आन्दोलन, बंगाल के अकाल का जनरव, सभी ने देश की जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों और स्तरों को प्रभावित किया। लक्ष-लक्ष आबाल-वृद्ध नर-नारी अपने प्राणों को हथेली पर रख कर स्वातंत्र्य-संग्राम में जूझ गये। सामयिक कवियों ने उन के लिये अनेक आह्वान-गीत तथा कीर्ति-गान लिखे जिनकी उस समय बड़ी धूम रही। परन्तु इनमें से अधिकांश को स्थायित्व प्राप्त नहीं हुआ। इनका जीवन कुछ महीनों से अधिक नहीं रहा, और यह स्वाभाविक ही था। वे उन आन्दोलनों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति थे और वे उनके साथ ही मौन हो गये। *भारत-भारती* का सामयिक महत्व अपरिमेय था, आज़ाद हिन्द फौज के सम्बन्ध में लिखी हुई कविताओं को लोग गलियों में गाते फिरते थे, परन्तु उनका महत्व स्थिर न रह सका क्योंकि वे प्रायः वाणी का उच्चार थीं, प्राणों की अभिव्यक्ति नहीं थीं। सामयिक प्रभाव का दूसरा नाम फ़ैशन है और साहित्य भी फ़ैशन से बच नहीं सकता। हिन्दी में न जाने कितने कवियों ने राष्ट्रीयता की मूलधारा में अवगाहन किये बिना प्राणों के स्फुलिंग की जगह मुँह के झाग उगले और छिछले दिल और दिमाग़ के लोगों ने झूम-झूम कर उनकी दाद दी। परन्तु गंभीर कवियों और पाठकों को इनमें आत्माभिव्यक्ति नहीं मिली। इसी लिये *भारत-भारती* के कवि को *साकेत* और *यशोधरा* में आत्माभिव्यंजन खोजना पड़ा, *रेणुका* के कवि को *कुरुक्षेत्र* में आकर आत्म-साक्षात्कार हुआ, नवीन को सांस्कृतिक कविताओं में अपनी आत्मा का रस उँडेलना पड़ा और जो ऐसा नहीं कर सके वे काव्य-इतिहास के पृष्ठ से लुप्त हो गये।

: ३ :

आधुनिक कविता में गांधी-दर्शन की अभिव्यक्ति

आधुनिक कविता में गांधी-दर्शन की अभिव्यक्ति

कवि सियारामशरण गुप्त

जैसा कि मैंने आरम्भ में निवेदन किया है आधुनिक आदर्शवादी चिन्ता-धारा के तीन पक्ष हैं : एक सौन्दर्यमय अनुभूत्यात्मक पक्ष, दूसरा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पक्ष, और तीसरा दार्शनिक-नैतिक पक्ष। इनमें से पहले दो पक्षों का विवेचन पिछले निबन्धों में किया जा चुका है। आज के भारतीय आदर्शवाद का तीसरा पक्ष—अर्थात् दार्शनिक-नैतिक पक्ष पूर्णतया गांधी-दर्शन से एक-रूप हो गया है। उसके सौन्दर्यमय रूप से गांधीवाद का पूर्ण तादात्म्य नहीं हो सका—उस पर रवीन्द्रनाथ का भी गहरा प्रभाव है, परन्तु उसका दार्शनिक-नैतिक पक्ष तो जैसे गांधी-दर्शन में संहिताबद्ध हो गया है। हिन्दी में गान्धी-तत्व-चिंतन की अभिव्यक्ति अधिक कवि-लेखकों में नहीं हुई। वास्तव में गांधी ने तपस्या की छन्नी में सत्य के रस को इतना छान कर पीने का प्रयत्न किया है कि सुन्दर भी उससे बहुत कुछ अलग-सा हो गया है—कम से कम सुन्दर के इन्द्रियगोचर रूप का तो अधिकांश छन कर ऊपर रह गया है। उसके इस शुद्धातिशुद्ध रस को ग्रहण करने के लिए जिस तपस्या और सात्विक साधना की अपेक्षा है वह वास्तव में दुर्लभ है। गांधी जी के सतत प्रभाव में रहने वाले सहकर्मियों में से भी कितने कम उसे ग्रहण कर पाये ! फिर, कवियों और साहित्यकारों पर तो उनका प्रभाव भी दूर से ही पड़ा—और वैसे भी, उनके साधन और साध्य दोनों ही भिन्न हैं। यही कारण है कि गांधीवाद के तात्विक रूप की प्रत्यक्ष काव्याभिव्यक्ति हिन्दी में ही नहीं गुजराती आदि में भी अत्यन्त विरल है। हिन्दी में गांधी जी के तत्व-चिन्तन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति केवल एक ही कवि में मिलती है—और वास्तव में वही एक ऐसा कवि है जो अपनी सात्विक साधना के बल पर उसे अपनी चेतना का अंग बना सका है। ये कवि हैं सियारामशरण गुप्त। उनके काव्य का आज हिन्दी में एक पृथक् स्थान है—भारतीय चिंताधारा की एक विशेष महत्वपूर्ण प्रवृत्ति के वे अकेले कवि हैं।

सियारामशरण गुप्त के काव्य का विश्लेषण करने से पूर्व गांधी-दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा देकर आधुनिक हिन्दी-काव्य पर उसके प्रभाव का एक सामान्य विवेचन प्रस्तुत करना उपादेय होगा। अस्तु !

गांधीवाद

गांधीवाद को दार्शनिक शब्दावली में आध्यात्मिक मानववाद कहा जा सकता है। इसके दो मूल आधार हैं : सत्य और अहिंसा। गांधी जी के अपने शब्दों में सत्य शब्द का मूल सत् है। सत् के माने हैं होना, सत्य अर्थात् होने का भाव। सिवा सत्य के और किसी चीज की हस्ती ही नहीं है (आत्मशुद्धि पृ० १)। यह सत्य अखंड और एक रस है। सम्पूर्ण चर-अचर में इसी की सत्ता व्याप्त है। सत्य का दूसरा नाम परमेश्वर है "..... इस लिये परमेश्वर का सच्चा नाम सत् अर्थात् सत्य है।" (आत्मशुद्धि पृ० १)। एक ही परम सत्य से अनुप्राणित होने के कारण प्राणिमात्र का समान अस्तित्व है। जब विश्व में केवल एक ही तत्व का अस्तित्व है तो तत्व-दृष्टि से ईश्वर और मानव में, और मानव और अन्य जीवों में कोई मौलिक भेद नहीं है। इस सम्पूर्ण सृष्टि में आत्मा ही चरम तत्व है। गांधी जी लिखते हैं--"मैं ईश्वर की और इस लिये मानवता की नितांत एकता में विश्वास करता हूं।" ...... "मैं अद्वैत में विश्वास करता हूं। मैं मनुष्य की और इस लिये सभी जीवधारियों की परम आवश्यक एकता में विश्वास करता हूं।" इस प्रकार वे "ईश्वरैक्य और ईश्वर में सम्पूर्ण जीवन के ऐक्य" को मानते हैं। आत्मा की इस चरम एकता के सिद्धान्त से गांधी जी को अपने दो मौलिक तत्वों की प्राप्ति होती है : एक तो प्राणिमात्र के प्रति समभाव, दूसरा एक मनुष्य के जीवन का दूसरे प्राणियों के जीवन पर अनिवार्य प्रभाव। जब सभी में एक ही आत्मा अनुस्यूत है तो निखिल विश्व के सभी मनुष्य ही नहीं समस्त जीवधारी हम से मूलतः अभिन्न हैं। अतएव मानव-मानव के भेद, वर्ण, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र, रंग, आदि के सभी भेद मिथ्या हैं। पर यह तो पहला संस्थान है; मनुष्य से आगे सम्पूर्ण प्राणिजगत् के साथ भी हमारा अभेद है। यही समबुद्धि का परम सिद्धान्त है और गांधी जी का विश्वास था कि "यह महान सत्य मनुष्य को ईश्वर की सृष्टि का स्वामी नहीं सेवक बनाता है।"[1] दूसरा मौलिक तत्व है एक मनुष्य के जीवन का दूसरे मनुष्यों और इतर प्राणियों आदि पर, अर्थात् अपने चारों ओर के वातावरण पर

१. हरिजन में प्रकाशित गांधी जी के वक्तव्य [सर्वोदय-तत्वदर्शन से उद्धृत]

अनिवार्य प्रभाव। मनुष्य अपने मूल रूप में आत्मा है। उसका भौतिक जीवन उसके आध्यात्मिक जीवन का स्थूल प्रदर्शनमात्र है। सूक्ष्म रूप में उसका जीवन उसी आत्मा की क्रिया है जो चराचर में अनुस्यूत है—अतएव "जो घटना एक शरीरधारी पर घटती है उसका समग्र जड़ पदार्थ पर और उसकी आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि यदि एक मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होता है तो उससे सारे संसार का लाभ होता है, और यदि एक मनुष्य का पतन होता है तो उस अंश में सारे संसार का पतन होता है।"[1]

इस प्रकार सत्य के साक्षात्कार से समबुद्धि प्राप्त होती है, और समबुद्धि से सबके प्रति अहिंसा का भाव उत्पन्न हो जाता है। जैसा कि स्थान-स्थान पर गांधी जी ने स्वयं कहा है—अहिंसा सत्य का ही दूसरा पहलू है। वास्तव में अहिंसा सत्य का भाव-पक्ष है। अहिंसा का अर्थ केवल हिंसा का अर्थात् व्यापक रूप में द्वेष का अभाव मात्र नहीं है। यों तो हिंसा का अभाव अथवा द्वेषहीन स्थिति भी अपने आप में एक बड़ी सिद्धि है, परन्तु वह पर्याप्त नहीं है। वास्तव में यह अभावात्मक स्थिति सम्भव भी नहीं क्योंकि चिरतरङ्गायित मन अभावावस्था में कैसे रह सकता है? अतएव अहिंसा का अर्थ प्रेम ही है। किन्तु यह प्रेम स्वार्थ और मोह आदि से सर्वथा मुक्त होता है क्योंकि स्वार्थमय प्रेम तो वास्तव में दूसरे के प्रति न होकर अपने प्रति ही होता है, वह अहिंसा नहीं है। अहिंसा का महत्व भारतीय दर्शन और आचार-शास्त्र में अति प्राचीन काल से प्रतिपादित होता आया है। उपनिषद्, दर्शन और महाभारत आदि में स्थान-स्थान पर अहिंसा की महत्व-प्रतिष्ठा की गई है। पतंजलि ने अपने योग-सूत्र में अहिंसा के भावात्मक रूप की निर्भ्रान्त शब्दों में स्थापना की है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि अहिंसा हिंसा का निषेध मात्र नहीं है, उसमें सब जीवों के प्रति सद्भाव भी अनिवार्य रूप से अंतर्निहित है। "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" अर्थात् अहिंसा की प्रतिष्ठा से वैरभाव का लोप होता है। गांधी जी ने निश्चय ही उपर्युक्त आर्ष ग्रन्थों का मनन किया था। इनके साथ ही उन पर बौद्ध और जैन ग्रन्थों, रामचरित मानस, मध्ययुगीन संतों की वाणी तथा बाइबिल का भी गहरा प्रभाव था। बाइबिल के पर्वत-संदेश का वे गीता और उपनिषद् के वाक्यों की भांति मनन और चिंतन किया करते थे। उनके अहिंसा-सिद्धांत पर निस्सन्देह इन सभी का प्रभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि गांधी

---

१. हरिजन में प्रकाशित गांधी जी के वक्तव्य [सर्वोदय-तत्वदर्शन से उद्धृत]

जी को अहिंसा का अभावात्मक स्वरूप आरम्भ में जैन साधुओं के सत्संग से प्राप्त हुआ। इसके बाद हिन्दू दर्शन तथा धर्म ग्रन्थों के अध्ययन से उसका तात्विक रूप पुष्ट हुआ, और भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों तत्वों के समुचित समन्वय से उसकी रूपरेखा पूर्ण हो गई। फिर भगवान् बुद्ध और ईसा के उपदेशों को हृदयंगम करने से उसके सक्रिय रूप को और उत्तेजना मिली और अंत में गीता के दर्शन द्वारा उसमें निष्काम भावना का समावेश हुआ। इस प्रकार इस अहिंसा में उपर्युक्त सभी तत्वों का समन्वय होकर उसका एक विशिष्ट रूप बन गया जो गांधी जी की अपनी देन है और जो जाने-अनजाने भारत की आधुनिक विचारधारा को प्रभावित करती रही है। इस अहिंसा में (अभावात्मक) वैर त्याग, (भावात्मक) चराचर प्रेम, और पूर्ण निष्काम भाव का समन्वय है।

अब प्रश्न है कि अहिंसा भाव की प्राप्ति कैसे हो ? इसका उपाय है अहंकार का पूर्ण उत्सर्ग। अहंकार का पूर्ण उत्सर्ग ही आत्म-शुद्धि है। जब मनुष्य अपने अहंकार को पूर्णतया घुलाकर समस्त विश्व के साथ अपनी सत्ता का तादात्म्य कर लेता है तो अहिंसा भाव उसे सहज ही प्राप्त हो जाता है। इसकी सिद्धि के लिये आवश्यकता होती है तप और भगवद्भक्ति की। तप का अर्थ है आत्म-पीड़न, पीड़ा की आंच में पिघल कर ही आत्मा का अहंकार-रूपी मल बह जाता है और वह कुंदन बन जाती है। यह भारतीय संतों का परम्परागत साधना मार्ग है—विदेश के संतों ने भी अपने ढंग से इसे ही अपनाया है, क्योंकि जब आत्मा एक है तो उसकी शुद्धि के उपाय भी भिन्न नहीं हो सकते। पर यह मार्ग अत्यन्त कठिन है, इस असिधारा-व्रत का पालन बिना भगवद्भक्ति के असम्भव है। इस के लिये ईश्वर में अटल विश्वास और अनुग्रह की चिर-याचना (प्रार्थना) अपेक्षित है। गांधी जी ने एक स्थान पर स्पष्ट लिखा है : "मैं बिना हवा-पानी के रह सकता हूँ लेकिन बिना ईश्वर के नहीं।" उनका विश्वास था कि टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाने पर भी ईश्वर उन्हें ऐसी शक्ति देगा कि वे उसके अस्तित्व से इन्कार न करेंगे। यह विश्वास ही तप का सम्बल है, और इस विश्वास की प्राप्ति भगवान के अनुग्रह से ही हो सकती है। यह श्रद्धा आस्तिक के लिये अनिवार्य है। श्रद्धा और भगवदनुग्रह का यह तत्व गांधी जी ने वैष्णव-ग्रंथों विशेषकर रामचरित मानस से प्राप्त किया था। इस प्रकार गांधी-दर्शन का वृत्त ईश्वर से आरम्भ होकर ईश्वर में ही समाप्त होता है।

यह आत्मशुद्धि व्यक्ति-कल्याण का ही साधन नहीं है लोक-कल्याण का

भी साधन है। क्योंकि जब आत्मा एक और अखंड है तो एक व्यक्ति का आध्यात्मिक उत्कर्ष निश्चय ही सम्पूर्ण वातावरण को प्रभावित करेगा। हमारे धर्म-ग्रंथों में तप का प्रभाव इसी रूप में वर्णित किया गया है, और उसका वैज्ञानिक आधार यही जीवन-सत्य है। तप से केवल अपने पाप का, अपने हिंसा-द्वेषादि का ही नाश नहीं होता, पापमात्र का---हिंसामात्र का नाश होता है। यही गांधी जी के हृदय-परिवर्तन सिद्धान्त का मूल रहस्य है।

इस प्रकार गांधी जी का दर्शन मूलतः पीड़ा का दर्शन है। आध्यात्मिक दृष्टि से वे साधारणतः निर्गुण संतों की परम्परा में ही आते हैं, यद्यपि वैष्णव-सगुण भक्ति का भी उन पर गहरा प्रभाव है।' वैष्णव-दर्शन भी अपने मूल में पीड़ा का ही दर्शन है, परन्तु वैष्णव भक्तों ने अपने प्रभु पर व्यक्तित्व का आरोप करते हुए उनके लीलामय रूप के भावन द्वारा इस पीड़ा को अत्यन्त रसमय बना लिया था। अतएव वैष्णव-दर्शन में पीड़ा और आनन्द ओतप्रोत हो गये हैं। गांधी जी अपने को वैष्णव मानते थे, परन्तु उनकी वैष्णवता पर-पीड़ा के परिहार और भगवदनुग्रह पर ही केन्द्रित रही। भगवान की सगुणता को तो उन्होंने उत्कट आग्रह और पूर्ण विश्वास के साथ ग्रहण कर लिया था, परन्तु उनका साकार, लीलामय व्यक्ति-रूप वे ग्रहण नहीं कर पाये, और यह आज के बौद्धिक युग का प्रभाव था, जिससे असम्पृक्त रहना उनके क्या किसी के लिये भी सम्भव नहीं है। इसी लिये मैंने कहा है कि वे निर्गुण सन्तों की परम्परा में ही आते हैं। निर्गुण शब्द का प्रयोग यहाँ मैं परम्परागत अर्थ में ही कर रहा हूँ-वैसे तो निर्गुण-भक्ति में ईश्वर के गुणों का निषेध नहीं है, आकार अथवा व्यक्तित्व मात्र का है। इस प्रकार गांधी जी के दर्शन में त्याग और तप का प्राधान्य है, और भोग का तिरस्कार। उसमें भोग को बचा कर मोक्ष की साधना है। इस लिये उसमें जीवन के आनन्द पक्ष की उपेक्षा है, और इसी लिये रवीन्द्रनाथ ने निषेधात्मक और निरानन्द कहकर उसकी आलोचना की थी। रवीन्द्रनाथ और योगी अरविन्द इसीलिये उनसे दूर पड़ गये।

गांधी-दर्शन में आनन्द का यह तिरस्कार कला के अधिक अनुकूल नहीं पड़ता। गांधी जी ने कला का बहिष्कार तो नहीं किया, परन्तु उनके लिये कला का अनिवार्य गुण था उपयोगिता। वे कला को अनिवार्य्यतः लोक कल्याण का साधन मानते थे इससे भिन्न कला उन्हें अग्राह्य थी। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि गांधी जी शिवं और सत्यं पर ही बल देते थे, सुन्दरं को वे या तो इन दोनों से अभिन्न मानते थे, या फिर उसे ग्रहण नहीं करते थे। उन्होंने

स्पष्ट लिखा है : कला का सम्बन्ध नीति, हितकारिता और उपयोगिता से नहीं है, केवल सौन्दर्य से ही है—यह कहना सौन्दर्य और कला को न समझने जैसा है । सत्य ही ऊंची-से-ऊंची कला और श्रेष्ठ सौन्दर्य्य है, और वह नीति, हितकारिता और उपयोगिता से रहित नहीं हो सकता ।

—(गांधी-विचार-दोहन)

इसी लिये कला-पर गांधी जी का सीधा प्रभाव अधिक नहीं पड़ा । गांधी जी ने अपने युग की चिंताधारा को प्रभावित करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से ही आज के साहित्य और कला को प्रभावित किया । परिणामतः अप्रत्यक्ष रूप से तो आज के अधिकांश साहित्य पर गांधी-दर्शन का गहरा और अंतर्व्यापी प्रभाव है, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से उससे सीधी प्रेरणा लेने वाला तथा उसे समग्र रूप में स्वीकार करने वाला साहित्य परिमाण में अत्यन्त स्वल्प है । हिन्दी कविता में इसके प्रतिनिधि हैं सियारामशरण गुप्त जिन्होंने गांधी-दर्शन को प्रत्यक्ष और समग्र रूप में ग्रहण किया है ।

कवि सियारामशरण गुप्त

सियारामशरण गुप्त की कविता का मैं लगभग पन्द्रह वर्षों से निरन्तर अध्ययन करता आया हूं । वे मेरे प्रिय कवि नहीं हैं । मेरी और उनकी वृत्ति तथा जीवन-दृष्टि में इतना अधिक अंतर है कि मैं उनके काव्य में आत्मानुभूति का सुख प्राप्त नहीं कर पाता । फिर भी मेरे मन में उनके काव्य के प्रति विशेष श्रद्धा रही है जैसी कि एक साधारण रागी व्यक्ति के मन में किसी सन्त के व्यक्तित्व और उसकी वाणी के प्रति होती है । और चूंकि आज की दुनिया में मुझ जैसे व्यक्तियों का ही बहुमत है, सियाराम जी जैसे अत्यन्त अल्प संख्या में हैं, इसी लिये उनका काव्य अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया । और, यह उनके साथ अन्याय नहीं है, यह उनके काव्य की स्वाभाविक परिसीमा है ।

सुस्थिर और व्यवस्थित अध्ययन के उपरांत मेरे मन में सियारामशरण की कविता के विषय में ये धारणाएं बनी हैं :—

१. उनकी कविता का मूल भाव करुणा है ।

२. उनकी काव्य-चेतना का धरातल शुद्ध मानवीय है दूसरे शब्दों में उसका मूलभूत जीवन-दर्शन विशुद्ध मानववाद है जिस पर गांधी जी के सिद्धान्तों की गहरी और प्रत्यक्ष छाप है ।

३. इस कविता का प्रभाव एकांत सात्विक और शांतिमय होता है ।

४. परन्तु सियारामशरण ने भुक्ति को बचाकर मुक्ति की साधना की है, इस लिये इस कविता में जीवन का स्वाद कम है।

मौर्य-विजय से लेकर नकुल तक सियारामशरण के अनेक काव्य ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें मौर्यविजय और नकुल खण्ड काव्य हैं, उन्मुक्त काव्य-रूपक है, बापू-व्यक्ति काव्य है, आत्मोत्सर्ग चरित्र-काव्य; आर्द्रा में काव्य-बद्ध कहानियां हैं और पाथेय, मृण्मयी, नोआखाली में, तथा दैनिकी में स्फुट विचारप्रधान कविताएं हैं। मौर्य-विजय को छोड़ जो मैथिलीशरण जी के प्रभाव में किया गया कवि का आरम्भिक काव्य-प्रयोग है, इन सभी का प्रधान स्वर करुण है। यह करुणा विषाद तथा आत्मोत्सर्ग में व्यक्तिगत होने के कारण तथा आर्द्रा की कहानियों में निरावरण होने से अत्यन्त तीव्र होगई है, उधर उन्मुक्त, दैनिकी और 'नोआखाली में' में भी वह युद्धतथा रक्तपात के वातावरण के कारण सर्वथा व्यक्त है, परन्तु अन्य रचनाओं में भी उसकी अन्तर्धारा उतनी ही असंदिग्ध है। करुणा की सर्वव्याप्ति के व्यष्टिगत और समष्टिगत दोनों ही कारण हैं। व्यष्टिगत कारणों में कवि का चिर-रुग्ण जीवन, पत्नी तथा अन्य प्रियजनों की मृत्यु और बहुत कुछ साहित्यिक उपेक्षा भी है। इन तीनों कारणों ने मिल कर उसकी दृष्टि को स्थायी रूप से करुणार्द्र बना दिया है। सबसे पहले तो श्वास रोग ही अपने आप में एक स्थायी व्यथा है परन्तु रोग की व्यथा को प्रेम विशेषकर अंतरंग सहचरी का प्रेम बहुत कुछ हलका कर लेता है। इसी प्रकार मृत्यु-वियोग आदि के शोक को व्यक्ति स्वास्थ्य सुख के द्वारा भुलाने में सफल हो जाता है। और प्रेम तथा स्वास्थ्य दोनों के अभाव को साहित्यिक आत्माभिव्यक्ति और उसकी स्वीकृति का सुख बहुत कुछ सह्य बना देता है। माना कि स्वीकृति का सुख अपने आप में कोई विशेष स्पृहणीय सुख नहीं है, परन्तु वास्तविकता का निषेध करना व्यर्थ है; लेखक का यह एक सम्बल है और प्रत्येक देशकाल में लेखक कोइसकी आवश्यकता रही है।

इस प्रकार व्यष्टिगत धरातल पर इस कवि ने स्वास्थ्य, दाम्पत्य-प्रेम और लोक-स्वीकृति इन तीनों के अभाव का अनुभव किया। उधर समष्टिगत जीवन में भी यह युग पराजय का युग था। राजनीतिक जीवन में कांग्रेस बार-बार विफल हो रही थी और उधर सामाजिक जीवन पर रूढ़ियों का सर्प इतनी गहरी कुण्डली मारे बैठा था कि जागरण-सुधार के सभी आन्दोलन उसको अपने स्थान से हिलाने-डुलाने में असमर्थ हो रहे थे। विषाद के इस सार्वभौम साम्राज्य

में सियारामशरण की कविता का विकास हुआ और स्वभावतः उसमें करुण स्वर का प्राधान्य हुआ।

यह करुणा क्रमशः व्यष्टि से समष्टि तक व्यापक होती गई है। विषाद की करुणा का धरातल, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया, शुद्ध व्यक्तिगत है। उसमें स्वर्गता पत्नी के वियोग में कवि ने अत्यन्त मार्मिक किन्तु संयत कविताएं लिखी हैं। मृत्यु के समक्ष मानव कितना असहाय है: उसका प्रेम, उसकी कल्पना, उसका बुद्धि वैभव सभी कुछ अपने प्रियजन को मृत्यु के पाश से मुक्त कराने में असमर्थ रहते हैं। वह बेचारा स्मृति, स्वप्न, कल्पना आदि की सहायता से भी तो अपने वियुक्त प्रिय को प्राप्त नहीं कर सकता। विकल कवि दिवास्वप्न देखता है :

हो सकती भव बीच नहीं क्या कोई नूतन बात ?
आजा आज यहाँ फिर से तू सस्मित पुलकित गात।

  

मन्द-मन्द गति से आकर तू आंखें मी दे खोल,
फिर से तेरे मंजु मिलन में उठे हर्ष-कल्लोल।
अरे यहां कैसे बैठे तुम, करती क्या खूब,
कुछ न सुनूं जा लिपटूं तुझ से हर्षोदधि में डूब॥

परन्तु यह सब क्रूर कल्पना है !

हाय, कुहुकमयि क्रूर कल्पना ! यह छलना है व्यर्थ,
अश्रु गिराना मात्र रहा है अब तो तेरे अर्थ।
उनमें से भी तुझ तक कोई पहुंच न सकते आह,
जाने कितने गिरि वन सागर रोक रहे हैं राह॥ (विषाद)

मानव की बेबसी का कितना करुण चित्र है !

जीवन का यह एकाकीपन कठिन रोग की पीड़ा से मिल कर कवि की वैयक्तिक करुणा को और भी गहरा बनाता हुआ उसके मन में कभी-कभी अत्यन्त निराशामय चित्र अंकित कर देता है :—

गत निशि में सोचा शैया पर मैंने लेटे-लेटे,
इसी निशा में मरण आज यदि आकर मुझको भेंटे।
नहीं रुकेगी तब भी क्षण भर गति संचरित पवन की,
क्या गणना है रत्नाकर में एक बूंद जल-कण की।

  

फिर भी विकल हो उठेंगे सब मेरे स्वजन सुहृज्जन ,
बहु अज्ञात गुणों की माला मुझे करेंगे अर्पण । (दैनिकी)

यही करुणा व्यक्तिगत धरातल से उठ कर समष्टिगत धरातल पर पहुंच कर क्रमशः सामाजिक और विश्वजनीन—मानवीय हो जाती है। आर्द्रा की कहानियों में "एक फूल की चाह", "खादी की चादर", आदि में उसका सामाजिक रूप निवारण होकर सामने आता है। हमारे समाज का अंतर्मन आर्थिक तथा वर्ण-जातिगत विषमताओं से पीड़ित है। "एक फूल की चाह" में अछूत बालिका सुखिया शीतला की महामारी का शिकार होती है। रुग्णा बालिका के मन में देवी के प्रसाद के एक फूल की चाह उत्पन्न होती है और उसका पिता बेटी की इस आकांक्षा को पूरा करने के लिए सामाजिक बाधा-व्यवधान की उपेक्षा करता हुआ अपने सदुद्देश्य में विश्वास करके चुपके-चुपके देवी के मन्दिर में जाता है। परन्तु पंडे लोग उसे पकड़ लेते हैं, उसको खूब मारा पीटा जाता है और अंत में न्यायालय उसे एक सप्ताह का दंड देता है। इस बीच में सुखिया बेचारी तड़प-तड़प प्राण त्याग देती है और उसका पिता जब कारावास भोग कर आता है तो ज्ञात होता है कि सुखिया को तो कई दिन पूर्व उसके परिचित बन्धु फूंक चुके थे :—

बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर, छाती धधक उठी मेरी ,
हाय फूल सी कोमल बच्ची हुई राख की थी ढेरी ।
अंतिम बार गोद में बेटी, तुझ को ले न सका मैं हाय ,
एक फूल मां का प्रसाद भी तुझ को दे न सका मैं हाय ।
वह प्रसाद देकर ही तुझ को जेल न जा सकता था क्या ?
तनिक ठहर ही सब जन्मों के दंड न पा सकता था क्या ?
बेटी की छोटी इच्छा वह कहीं पूर्ण मैं कर देता ,
तो क्या अरे दैव, त्रिभुवन का सभी विभव मैं हर लेता ?
यहीं चिता पर धर दूँगा मैं कोई अरे, सुनो, वर दो ,
मुझ को देवी के प्रसाद का एक फूल ही लाकर दो । (आर्द्रा)

कवि सियाराम का हृदय समाज की इस नृशंसता पर चीत्कार कर उठता है और उससे हिंदू समाज के प्रति एक अत्यन्त तीखा करुण व्यंग निकल जाता है :

कँवी कहते "अरे मूर्ख, क्यों ममता थी मंदिर पर ही ?
पास वहीं मसजिद भी तो थी, दूर न था गिरजाघर भी ।"

समाज के धरातल से फिर यह करुणा विश्वजनीन हो जाती है और कवि के हृदय में केवल अपने परिचित समाज के प्रति ही नहीं वरन समस्त जगती के प्रति करुणा का उद्‌भव हो जाता है :—

हाय री मेरी जगती
इतनी सुन्दर तदपि धृणित-सी तू क्यों लगती ?
* * *
तेरे में कुछ नहीं तेज बल ? अयि कल्याणी ,
तू क्यों ऐसी दीन हुई क्यों कुंठित वाणी ? (उन्मुक्त)

निष्कर्ष यह है कि इस करुणा का धरातल मूलतः व्यक्तिगत अथवा सामाजिक न होकर मानवीय है। कवि सियाराम के काव्य की करुणा आज की चिर-परिचित भौतिक कुंठाओं की करुणा न रह कर भारतीय अध्यात्म की मानव-करुणा, भगवान् बुद्ध की मैत्री-करुणा बन जाती है। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि इसका जन्म भौतिक कुंठाओं से ही होता है, परन्तु कवि ने अपनी साधना और तपस्या से उसे परिष्कृत कर शुद्ध मानव-करुणा का रूप दे दिया है। यह तपस्या है आधुनिक मनोविश्लेषण की शब्दावली में आत्म-पीड़न—मन को इस प्रकार वश में कर लेना कि वह दुःख में ही रस लेने लगे। वास्तव में मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुसार आत्म-पीड़न कोई स्पृहणीय वृत्ति नहीं है, परन्तु इसका उचित उपयोग करने से उन्नयन के लिए मार्ग प्रस्तुत हो जाता है। भारतीय साधना पद्धति में इसका बड़ा महत्व रहा है। प्राचीन संतों से लेकर गांधी तक ने इस साधना को अपनाया है।

इस प्रकार सियाराम जी की करुणा स्थूल से सूक्ष्म अर्थात् भौतिक से आध्यात्मिक हो जाती है। स्वभावतः ही इस करुणा में निराशा का अंधकार अथवा किसी प्रकार की रुग्णता नहीं है क्योंकि इसका मूल गहरी आस्तिकता में है। जीवन की करुणा से भीगा हुआ होने पर भी यह काव्य आशा और विश्वास के अमर संदेश से मुखर है। व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा सार्वजनिक किसी भी धरातल पर कवि की करुणा श्रद्धा और विश्वास से रहित नहीं होती :—

आश्वसित, समाश्वसित हूँ ,
तुझे देख कर हरित भाव से आशान्वित हूँ ।
देख रहा हूँ, जहाँ क्रोध कुत्सित पाशव का ,
रूप विकट बीभत्स, जहाँ मूर्छित मानव का ।
शतशः खंडीकरण दलन-विदलन कर-कर के ;

उसी ठौर पर उसी ठिकाने के थल पर से ,
फूट पड़े हैं नये नये अंकुर वे शोभन ।

जीवन में जो घृणा और पाशवता दिखाई देती है वह जीवन का सत्य नहीं है वह तो केवल माया है। जीवन का सत्य है स्नेह और सत्य की शक्ति माया की शक्ति से कहीं प्रबल है। माया भंगुर है सत्य चिरंतन। घृणा और द्वेष की विभीषिका कुछ समय तक ही रहती है अंत में विजय स्नेह की ही होती है। सियाराम जी ने अत्यन्त मार्मिक शब्दों में इस अमर सत्य की व्यंजना की है :

उस सैनिक का रुधिर वहाँ वह हृदय-विमोहन ,
नवजीवन के अरुण राग में परिवर्तित है ।
जिसे घृणा की गई उसी के लिये नमित है ,
धरणी की वह सुमन-मंजरी मृदुलान्दोलित ।
स्नेह-सुरभि की लोल लहर ही है उत्तोलित ,
इधर, उधर, सब ओर । (उन्मुक्त)

घृणा के ऊपर स्नेह की यह विजय स्पष्ट शब्दों में गांधीवाद की घोषणा है। और सियारामशरण जी ने गांधी-दर्शन को प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण किया है। जैसा कि मैंने अन्यत्र संकेत किया है सियारामशरण ने गांधीवाद के तात्विक पक्ष को ही अपनाया है उसके व्यवहार-पक्ष के प्रति उनको अधिक रुचि नहीं रही। वह उनके अग्रज का क्षेत्र है। इसका कारण दोनों के व्यक्तित्वों का अंतर है। मैथिलीशरण जी का जीवन विशिष्ट रागद्वेषमय व्यावहारिक जीवन है सियारामशरण का जीवन चिंतनमय है। और स्पष्ट शब्दों में मैथिली बाबू में जीवन का प्रबल उपभोग है, सियाराम जी में उसका चिंतन। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि मैथिली बाबू ने जहां गांधीवाद का कर्म रूप ग्रहण किया है वहां सियाराम जी ने उसका तत्व रूप। इसके अतिरिक्त दोनों में एक और अंतर है। मैथिली बाबू में भक्ति के संस्कार गहरे और अचल हैं, सियारामशरण में संतों का आत्मपीड़नमय तप है। अतएव सियाराम जी गांधीवाद के तात्विक रूप को जो मूलतः संत-दर्शन का ही विकास है, सहज ही ग्रहण कर सके। परन्तु मैथिली बाबू के भक्ति-संस्कार इतने प्रबल और गहन थे कि उनके ऊपर गांधी जी के केवल उन्हीं सिद्धांतों का प्रभाव पड़ सका जिनके साथ उनकी संगति बैठती थी। व्यावहारिक दृष्टि से अत्यधिक जागरूक होने के कारण उन्होंने गांधीवाद के उन सभी तत्वों को अपनी रामभक्ति में समाविष्ट कर लिया है जिनका उससे मौलिक विरोध नहीं है। गांधी जी के स्वदेश-प्रेम, स्वातंत्र्य-संघर्ष, जागरण-सुधार,

साम्प्रदायिक एकता, धार्मिक औदार्य, पर-सेवा आदि सिद्धांतों को मैथिली बाबू ने बड़े उत्साह के साथ ग्रहण किया है, परन्तु सत्य और अहिंसा को उन्होंने रामभक्ति के अनुरूप ढालकर ही स्वीकार किया है । जहां गांधी-नीति और रामभक्ति में मौलिक भेद है वहां मैथिली बाबू ने गांधी-नीति को स्वीकार नहीं किया, जैसे कि अवतारवाद आदि के सम्बन्ध में । सिद्धांततः गांधी निर्गुण भक्तों की परम्परा में आते हैं । मैथिली बाबू ने सगुण और साकार उपासना को विधिवत् और पूर्ण निष्ठा के साथ ग्रहण किया है ।

सियाराम जी में आस्तिक संस्कार तो अपने अग्रज की भाँति ही वर्तमान हैं, परन्तु उनकी आस्तिकता का विकास शास्त्र-धर्म के अनुसार न होकर युग-धर्म के अनुसार हुआ है । उन्होंने गांधी-दर्शन को समग्रतः ग्रहण कर लिया है। एकसे संस्कार और वातावरण में पोषित इन गुप्त बंधुओं के जीवन-दर्शन का यह अंतर मनोविज्ञान की दृष्टि से सहज ही समझा जा सकता है । सियाराम जी की रुग्णता और उनके जीवन की दुःखद घटनाओं ने आत्मपीड़न के सिद्धांत को उनके लिये सहज ग्राह्य बना दिया । इसके विपरीत मैथिली बाबू के सहज स्फूर्तिमय व्यावहारिक व्यक्तित्व को वंश-परम्परागत रामभक्ति में पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकी। वास्तव में भारतीय चिंता-परम्परा में वैष्णव दर्शन पीड़ा का दर्शन है, और शैव दर्शन आनन्द का । वैष्णव दर्शन में भी निर्गुण और सगुण धाराओं में पीड़ा के अनुपात का अंतर है । सगुणोपासना में आनंद का यथेष्ट समावेश है, परन्तु निर्गुण भाव एकांत दुःख की फ़िलासफ़ी है । गांधीवाद भी इसी परम्परा के अन्तर्गत आता है । वह भी पीड़ा का दर्शन है, एक परतंत्र देश की चिर पराजय से जिसका जन्म हुआ है । अतएव स्वभावतः ही यह मैथिली बाबू की अपेक्षा सियाराम जी के व्यक्तित्व के अधिक अनुकूल पड़ा और इसके द्वारा उन्हें अपनी व्यक्तिगत पीड़ा के उन्नयन का अवसर मिल सका ।

गांधी-दर्शन वास्तव में सियारामशरण की रचनाओं में ओतप्रोत है । उनमें स्थान-स्थान पर गांधी जी की वाणी का काव्यानुवाद मिलता है :

नहीं कहीं कुछ भेद, एक ही इन्द्र धनुष में;
भासित वे बहु वर्ण, वर्ण ये पुरुष पुरुष में
बाहर के आभास, एकता ही अन्तर्गत ।

वह एकता सब में अनुस्यूत, अखंड सत्य की एकता है । इसी एक सत्य से अनुप्रेरित होने के कारणमानव स्वभावतः अकलुष है । सारा कलुष परिस्थिति-

जन्य आवरण मात्र है जिसके हट जाने से मनुष्य का शुद्ध-बुद्ध मानव फिर अपने मूल रूप में आ जाता है।

वह सैनिक भी न था और कुछ, वह था मानव;
ऐसा मानव, लाभ उठा जिसकी शिशुता का
किसी इतर ने चढ़ा दिया था उस पशुता का
ऊपर का वह खोल।

अतएव पाप वास्तव में एक प्रकार की भ्रांति ही है इसलिए पापी क्रोध का पात्र न होकर दया का पात्र है :

आत्म विस्मृति ने छाकर
उसका बोध विलोप कर दिया था, मैं उस पर
रोष करूं या दया ?

क्योंकि रोष तो स्वयं हिंसा है और हिंसा से हिंसा की शुद्धि कैसे हो सकती है ? हिंसा की शुद्धि के लिये तो अहिंसा अपेक्षित है। यही जीवन का चिर सत्य है:

हिंसानल से शांत नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर,
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर। (उन्मुक्त)

यह गांधी जी के सूत्रों का अविकल अनुवाद है। इतना ही नहीं उनके सभी कथा-काव्यों का मूलार्थ भी यही है। आत्मोत्सर्ग, उन्मुक्त और 'नोआखाली में' तो प्रत्यक्ष रूप से गांधीवाद के सिद्धान्तों की स्थापना करते ही हैं, उनके अतिरिक्त आर्द्रा और मृण्मयी की काव्यबद्ध कहानियों और नकुल में भी गांधी-दर्शन की ही अभिव्यक्ति है। और यही बात दैनिकी आदि की विचारात्मक स्फुट कविताओं में है। वास्तव में हिन्दी काव्य में गांधी-दर्शन की इतनी सहज अभिव्यक्ति किसी भी लेखक ने नहीं की। यों तो गांधी-दर्शन का प्रभाव इस युग में एक सर्वव्यापी प्रभाव है—हिंदी का कदाचित् ही कोई कवि लेखक इससे अछूता रहा हो। यह वास्तव में हमारा युग-दर्शन है। अनेक में गांधीवाद काप्रचार-घोष भी आवश्यकता से अधिक मिलता है। परन्तु हिन्दी में मूलतः दो लेखक ऐसे हैं जिन्होंने गांधी-दर्शन को गंभीरतापूर्वक ग्रहण किया है जैनेन्द्र और सियारामशरण। इनमें से जैनेन्द्र की स्वीकृति एकांत बौद्धिक है। उनकी आत्मा गांधी-दर्शन के शम-सात्विक प्रभाव को ग्रहण नहीं कर सकी है। पंत जी को

गांधी-दर्शन की शांत परिष्कृति पूर्णतः स्वीकार्य है परन्तु वे कदाचित् उसमें अभीष्ट कला का अभाव पाते हैं, इसलिए अरविन्द के प्रति उन्हें अधिक आकर्षण है। किन्तु सियारामशरण के हृदय और बुद्धि दोनों का गांधी-दर्शन के साथ पूर्ण सामंजस्य है, वह उनकी आत्मा में रम गया है।

इस प्रकार के तपःपूत और साधनामय जीवन की अभिव्यक्ति निसर्गतः ही अत्यन्त सात्विक एवं शांतिमय होनी चाहिये। और इस दृष्टि से सियारामशरण जी की कविताओं का सबसे पृथक् एक विशिष्ट स्थान है। हिंदी के एक आलोचक ने सियारामशरण के निबंधों के प्रभाव के विषय में लिखा है कि इनका प्रभाव मन पर ऐसा पड़ता है जैसा कि निभृत मंदिर में मंद-मंद जलते हुए घृत-दीप का। यह उक्ति वास्तव में सियारामशरण के समस्त साहित्य पर विशेषकर उनके काव्य पर पूर्णतः घटित होती है। उनके काव्य को पढ़ कर मन आत्मद्रव से भीगकर एक स्निग्ध शांति का अनुभव करता है। इस काव्य में उत्तेजना का एकांत अभाव है—न वह भावों को उत्तेजित करता है और न विचारों को। भयंकर संघर्ष और उथल-पुथल के इस युग में जबकि सर्वत्र ही मूल्यों का कुहराम मचा हुआ है, उत्तेजना का यह शमन अद्भुत सफलता है। वास्तव में आज के जीवन में उत्तेजना सत्य है और शांति कल्पना। आज का कवि हृदय को ही नहीं विचारों को भी झकझोर कर पाठक के मन को प्रभावित करता है। उसका संवेद्य ही यह उत्तेजना है। मूल्यों को अस्त-व्यस्त करता हुआ मान्यताओं को चुनौती देता हुआ, विचारों को झकोरे देकर (और उसके द्वारा हृदय में भी उथल-पुथल मचती ही है) वह पाठक के साथ बौद्धिक तादात्म्य स्थापित करता है। सियारामशरण इस बौद्धिक उत्तेजना से अपरिचित नहीं हैं, उनके खंड काव्यों और स्फुट मुक्तकों में इसकी स्थिति सर्वत्र है परन्तु स्वीकृति कहीं भी नहीं है। युग के तूफ़ान और आंधी के बीच उनका वह मन्दिर-दीप जिसमें विश्वास अर्थात् सत्य की अग्नि शिखा है, और स्नेह अर्थात् अहिंसा का घृत है नीरव निष्कम्प जलता रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सियारामशरण की कविता बौद्धिक उत्तेजना से मुक्त आस्तिक विश्वास से प्रेरणा प्राप्त करती है और उसका यह विश्वास एकांत मानवीय मूल्यों पर—सत्य और अहिंसा पर—आधृत होने के कारण शांत और नीरव है, दूसरे के सर पर चढ़ कर बोलने वाला नहीं है। इसलिये इस कविता में एक अपूर्व शांति और सात्विकता मिलती है।

इस शांति और सात्विकता का दूसरा रहस्य यह है कि इस कवि की चेतना वासना और ऐन्द्रियता से बहुत कुछ मुक्त है। निरवरत साधना और संयम

से उसने वासना को अत्यंत परिष्कृत कर लिया है। फलतः उसमें एक ओर क्रोध घृणा आदि द्वेषजन्य मनोवेगों का परिमार्जन हो गया है, और दूसरी ओर राग का उन्नयन। सियाराम जी जैसे व्यक्ति के लिये साधारणतः मनोग्रन्थियों और काम-कुण्ठाओं का शिकार हो जाना स्वाभाविक था परन्तु उनके आस्तिक संस्कार और निष्ठा ने उनकी रक्षा की है और इतना बल प्रदान किया है कि वे अपनी कुण्ठाओं पर विजय प्राप्त कर सके। वास्तव में मनोविश्लेषकों ने कुण्ठा के पोषण के लिये जिन परिस्थितियों का उल्लेख किया है वे सभी सियारामशरण जी के जीवन में उपस्थित रही हैं। उदाहरण के लिये काम की अभिव्यक्ति के साधन का अभाव, कठोर नैतिक वातावरण एवं धार्मिक रूढ़िग्रस्त जीवन तथा अस्वस्थ शरीर। परन्तु इस व्यक्ति ने अपनी साधना से जीवन के विष को अमृत कर लिया है। और मैं समझता हूं इसका श्रेय बहुत कुछ अंशों में आस्तिक संस्कार और पारिवारिक स्नेह को भी देना पड़ेगा।

तीसरा कारण इस सात्विक शान्ति का यह है कि सियारामशरण जी ने अपने अहंकार को पूर्णतः पीड़ा में घुला दिया है। भयंकर अहंवाद के इस युग में अहंकार का यह उत्सर्ग एक आध्यात्मिक सफलता है और जैनेन्द्र जी के अनुसार साहित्य का चरम श्रेय यही है। साहित्य का चरम श्रेय यह हो अथवा न हो परन्तु जीवन और साहित्य की यह एक पुण्य साधना अवश्य है जिससे चेतना शान्तिमय और निर्मल होती है, और इस प्रकार जिस साहित्य की सृष्टि होती है वह निस्सन्देह सात्विक और पुण्यपूत होता है। पीड़ा के दर्शन को हृदय से स्वीकार करने वाले के लिये वास्तव में अहंकार का विलयन करना अनिवार्य हो जाता है क्योंकि पीड़ा व्यक्तित्व को द्रवीभूत करती है, अहंकार उसे पुंजीभूत करता है। दैहिक और दैविक कष्टों के कारण और परिवार में छोटे होने के कारण सियारामशरण आत्मनिषेध के अभ्यस्त होते गये और उधर अपने आस्तिक संस्कारों के द्वारा उसकी मनोवैज्ञानिक विकृतियों को बचाते हुए उसे उदात्त रूप देते गये। परिणाम-स्वरूप विनय (अहंकार का अभाव) उनकी चेतना का अंग बन गयी और व्यक्तिगत पीड़ा का मानव पीड़ा के साथ तादात्म्य होता गया जिससे रजस् और तमस् बहुत कुछ घुल कर नष्ट हो गया और सत् का प्राधान्य हो गया। सात्विकता की दृष्टि से वास्तव में सियारामशरण का काव्य आधुनिक हिन्दी काव्य में अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं रखता। ऐसी सात्विकता और शान्ति प्राप्त करने के लिये हमें महादेवी की कतिपय कविताओं को पार करते हुए बहुत दूर मध्ययुग के भक्तों के आत्मनिवेदन तक जाना होगा।

परन्तु उस काव्य की और सियारामशरण के काव्य की आत्मा में भेद है। सियारामशरण भक्त नहीं हैं, भक्त की एकनिष्ठता उनमें नहीं है। उन्होंने अपनी रति को केन्द्रित करने की जगह वितरित किया है। उनमें श्रद्धा है, ममता है किन्तु एकनिष्ठ रति नहीं है।

यह अभाव सियारामशरण की कविता के सबसे बड़े अभाव के लिये उत्तरदायी है, और वह यह है उन्होंने भुक्ति को बचाकर मुक्ति की साधना की है : इस लिये उनमें जीवन का स्वाद कम है। नाना रसमयी सृष्टि में उनका घनिष्ठ परिचय करुण और शांत से ही है। करुण माध्यम है और शांत परिणति। शृङ्गार वीर आदि भावात्मक रसों का उन्होंने बड़े सन्देह के साथ डरते-डरते स्पर्श किया है। नारी की ओर दृष्टि डालने से पूर्व यह सत्पुरुष अपनी आंखों को मानो गंगाजल से आंज लेता है। यों तो इनके काव्यों में नारी के विविध रूपों का वर्णन है—नारी के माता, बहन, पुत्री, पत्नी और प्रेयसी सभी रूप मिलते हैं, परन्तु कहीं भी वे रति की आलम्बन प्रकृत नारी के रूप तथा मन का उद्घाटन नहीं कर सके हैं। नारी के लिये उनके मन में श्रद्धा और संकोच-मिश्रित स्निग्धता भर है। जहां कहीं शृङ्गार का प्रसंग आता है सियाराम-शरण जी के ये दोनों भाव उस पर आरूढ़ हो जाते हैं। उदाहरण के लिये—

करती थी वह वहां अकेली स्नान-निमज्जन।
अंजलि-जल से वक्ष बाहु कच भिगो भिगो कर,
जल-धारा में पसर गई वह लम्बी होकर।
सैकत में फिर युग मृणाल भुज स्थापित कर निज,
ऊपर समुद उछाल दिया उसने मुख सरसिज। (नकुल)

रूप-वर्णन कितना फीका है। इसको पढ़ कर स्पष्ट ही यह धारणा होती है कि या तो कवि के पास रमणी के इस रूप का पान करने वाली दृष्टि नहीं है, या फिर उसने साहस के अभाव के कारण अपनी आंखें दूसरी ओर मोड़ ली हैं। और वास्तव में यही हुआ है। कवि सचमुच सहम कर आकाश की ओर देखने लगा है :

इसी समय सामने क्षितिज में अरुण सेज पर,
उठा बाल रवि गगन धरा का अनुरंजन कर।

रमणी की ओर दृष्टि उसने श्रद्धा भाव को आहूत करने के उपरान्त ही डाली है :

अर्द्धोत्थित से हुआ न जब तक पूर्णोत्थित वह
बनी रही साष्टांग नमन मुद्रा में स्थित वह।

इस प्रसंग में अन्तर को स्पष्ट करने के लिये आपको प्राचीनों में विद्यापति का, और नवीनों में प्रसाद का स्मरण मात्र करा देना पर्याप्त होगा। इसमें संदेह नहीं कि विवेक बल के द्वारा सियाराम जी ने भी स्थान-स्थान पर संकोच का परित्याग कर प्रकृत चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया है, परन्तु अब उसके लिये बहुत विलम्ब हो गया है और इन अभिव्यक्तियों में ऊष्मा की कमी है :

एक हाथ से हाथ, दूसरे से धर ठोढ़ी,
ग्रीवा अपनी ओर पार्थ ने उसकी मोड़ी।
और स्वमुख से अमिट प्रेम की छाप लगाई,
अमृत पिला कर विरह काल की भीति भगाई।

यह चित्र बिल्कुल ठंडा है। सारी क्रिया यंत्रवत् है। तुलना कीजिये :

और एक फिर व्याकुल चुम्बन रक्त खौलता जिससे,
पागल प्राण धधक उठता है तृषा-तृप्ति के मिस से।
(प्रसाद—कामायनी)

और, श्रद्धेय सियारामशरणजी क्षमा करें यह प्रक्रिया भी गलत है।

इसमें संदेह नहीं कि नारी के माता, बहन, मित्र आदि अनेक रूप हैं, और उसे सदा बुभुक्षित नेत्रों से देखना अत्यंत अस्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक है, परन्तु उसका एक प्रकृत नारी रूप भी है जिसके शरीर और मन में उपभोग की भूख है जो स्वयं उपभोग्य बन कर ही तृप्ति पाती है। स्वयं सियारामशरण के ही काव्य में एक स्थान पर प्रकृत नारी यही पुकार कर उठी है :

आकर सहसा किसी भ्रान्ति की संचारी में,
देवी का आरोप करेंगे यदि नारी में,
तो कैसे वह सहन कर सकेगी उस क्षण को,
जब कल छलना रहित समय कर देता मन को।

नैतिक आदर्श आदि के आतंक से इस रूप की उपेक्षा करना उसके मूल रूप की उपेक्षा करना है और जीवन के कवि के लिये वह स्पृहणीय नहीं है। उसका अभाव जीवन की अपूर्णता का द्योतक है।

शृङ्गार के अतिरिक्त उनमें जीवन और काव्य को समृद्ध करने वाली व्यक्तित्व की अन्य प्रकृत अभिव्यक्तियों की भी परिक्षीणता है। उन्होंने अपने आत्मपीड़न के द्वारा अपने अहं को घुला कर इतना निर्मल करने का प्रयत्न

किया है कि उसके रंग धुल गये हैं, और उनकी जीवन-दृष्टि आवश्यकता से अधिक निर्वैयक्तिक एवं एकांगी-सी हो गई है। अहं का संस्कार करते-करते ये उसकी प्रकृत शक्ति खो बैठे हैं। अतिशय परिष्कार से वस्तु की प्रकृत शक्ति नष्ट हो जाती है, यह प्रकृति का नियम है। अहं के सत् असत् दोनों रूपों की जीवन में सार्थकता है! स्नेह, करुणा, श्रद्धा, शान्ति, विनय, संयम, अहिंसा, आदि तो जीवन के आभूषण हैं ही, परन्तु घृणा, कठोरता, दर्प, अहंकार, वासना आदि की भी सार्थकता में सन्देह नहीं किया जा सकता है। घृणा में असमर्थ व्यक्ति का स्नेह फीका होता है, जो व्यक्ति कठोर नहीं हो सकता उसकी करुणा असहाय होती है। दर्पहीन की श्रद्धा दुर्बल होती है और विनय क्लीव। इसी प्रकार अहिंसा को भी हिंसा वृत्ति के अनुपात से ही तेज प्राप्त होता है। जीवन का यह समग्र-ग्रहण सियारामशरण जी में नहीं है—यह उनके अग्रज में है। सियारामशरण की कविता में अमृत है, पर मनुष्य को रस चाहिये, वह तो रस पर जीता है। सियारामशरण जी की चेतना का मूल गुण है उसकी संवेदनशीलता। पीड़ा को जीवन-दर्शन मानने वाला व्यक्ति निश्चय ही अतिशय संवेदनशील होगा। संवेदनशीलता के कारण उनकी काव्यचेतना अत्यंत सूक्ष्म है, उसमें गहराई भी कम नहीं हैं। परन्तु जीवन के उपभोग के अभाव में उसमें समृद्धि का अभाव है और उधर जीवन की समग्र-ग्रहण न होने के कारण उसमें व्यापकता तथा विराटता का भी अभाव है।

कला-शिल्प

उपर्युक्त विश्लेषण की भूमिका में अब मैं यदि यह कहूँ कि सियारामशरण जी अपनी कला-शिल्प के प्रति अत्यंत जागरूक हैं तो वह असंगत सा प्रतीत होगा। जिस व्यक्ति के काव्य में इतनी सात्विकता और शांति है, जिसने आत्मशुद्धि पर इतना बल दिया है, वह कला-शिल्प के प्रति जागरूक क्यों होगा ? परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। उपर्युक्त गुणों का कला-शिल्प से कोई विरोध नहीं है। कला-शिल्प से विरोध बहिर्मुखी प्रवृत्ति तथा अतिशय प्रबल आत्माभिव्यक्ति का तो माना जा सकता है। जिस व्यक्ति को अनुभूति की प्रबल प्रेरणा के कारण चिंतन का अवकाश न हो वह कला के प्रति उदासीन होगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति बाहर की ओर ही अधिक देखता है, वह भी कला-दृष्टि खो बैठता है। कला के लिये अंतर्मुखी वृत्ति आवश्यक है जिसके दो प्रमुख रूप हैं : चिंतन और कल्पना, और सियारामशरण में इन दोनों का विशेषकर

चिन्तन का प्राचुर्य है । चिंतन एक प्रकार से उनके काव्य का सामान्य गुण है । निदान उनकी काव्य-चेतना से कला-शिल्प का कोई विरोध नहीं है । हां, यह असंदिग्ध है कि इस कला-शिल्प का स्वरूप उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही है ।

इस दृष्टि से सियारामशरण की कला की एक प्रत्यक्ष विशिष्टता यह है कि वह गीतिमय न होकर चिंतनमय है । उनकी कविता में प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति नहीं मिलती । वे प्रायः एक विचार को लेकर उसके परिवहन के लिये एक छोटी सी लघुकथा (फेबिल) का निर्माण करते हैं और उसी के माध्यम से अपने अभिप्रेत को व्यक्त करते हैं । यह उनकी प्रिय शैली है और एक प्रकार से अब उनके लिये स्वाभाविक सी हो गई है । वे कहते नहीं हैं, संकेत करते हैं । व्यंग्य उनका सबसे प्रबल शस्त्र है और कहीं-कहीं यह बड़ा मार्मिक और तीखा हो जाता है ।

दूसरे, यह कला समृद्ध न होकर स्वच्छ है । इसमें रूपरंग का विलास, औज्ज्वल्य अथवा मीनाकारी नहीं है । इसमें एक निरन्तर स्वच्छता है जिसका मूल आधार है समन्विति । कवि की कल्पना और भाव-कोष पर चिन्तन का स्थिर नियमन है, अतएव प्राचुर्य्यजन्य शैथिल्य और सूत्राभाव उसमें कहीं भी नहीं मिलता । उसकी अभिव्यक्ति सदैव सार्थक एवं अन्वित होती है । उसके चित्र कहीं भी असम्बद्ध एवं स्वतंत्र नहीं हो पाते । मूल विचार की एक एकसूत्रता उनमें सदैव रहती है । राग, कल्पना, तथा विचार का पूर्ण सामंजस्य उनमें सर्वत्र मिलता है । इसीलिये एक आलोचक ने उनकी प्रशंसा में लिखा है कि सियारामशरण की काव्य-भाषा वाक्य-रचना आदि की दृष्टि से गद्य-भाषा के अधिक से अधिक निकट आ जाती है । अन्वय किये बिना ही प्रायः उसका गद्यान्तर किया जा सकता है । यह वाग्धारा की स्वच्छता और स्फीति का ही द्योतक है । अन्यथा उनकी भाषा गद्यवत् नहीं है । उसका काव्योचित अर्थ-गांभीर्य्य और प्रौढ़ता अद्भुत है । और संतोष की बात यह है कि यह प्रौढ़ता निरन्तर बढ़ती जाती है । नकुल से कुछ उदाहरण देता हूं :

१. थमा दिव्य संगीत मुखरता खोई दिव की ,
चढ़-सी गई समाधि समय के सुन्दर शिव की ।

२. किस पामर ने किया नखांकित दारुण दुखकर ,
संशय का यह घाव आर्य-वाणी के मुख पर ।

३. धरा वहां उठ गई स्कन्ध तक मानों दिव के,
तपोरता पार्वती अंकगत हो ज्यों शिव के।

ये केवल उदाहरण मात्र हैं। वैसे अब सियारामशरण की अभिव्यक्ति का साधारण स्तर ही यह हो गया है। उनके नवीन काव्यों में प्रत्यक्ष इतिवृत्त के वर्णन का एक प्रकार से अभाव होता जा रहा है। उनकी अभिव्यक्ति अब ऋजु-सरल न रह कर उत्तरोत्तर वक्र होती जा रही है।

इस प्रकार कवि सियारामशरण के काव्य में संस्कार और साधना का साधु समन्वय है। वे उन कवियों में से हैं जिन्होंने सच्चे अर्थ में काव्य की साधना की है। वे लोकप्रिय नहीं रहे, और हो भी नहीं सकते क्योंकि वे प्रेय छोड़ कर श्रेय की साधना में रत हैं।

: ४ :

वैयक्तिक कविता

वैयक्तिक कविता

जैसा कि पहले कहा गया है इस युग की वैयक्तिक कविता आदर्शवादी और भौतिकवादी—दक्षिण और वामपक्षीय विचारधाराओं के बीच का सेतु है। इसमें आदर्शवादी विचारधारा का प्रखर व्यक्तिवाद, और भौतिकवादी वामपक्षीय विचारधारा का स्थूल और मूर्त अर्थात् भौतिक जगत के प्रति आग्रह तथा परम्परा और अध्यात्म के सूक्ष्म आदर्शों के प्रति अनास्था है। वास्तव में छायावाद के मूलस्रोत से आविर्भूत इसी धारा ने प्रगतिवाद के लिए पथ प्रशस्त किया। इस प्रकार यह प्रवृत्ति जैसा कि मैंने आरम्भ में कहा है, छायावाद की अनुजा और प्रगतिवाद की अग्रजा है।

वैयक्तिक कविता का विशिष्ट रूप

वैसे तो सभी काव्य मूलतः वैयक्तिक ही होते हैं। काव्य के उन रूपों में भी जिनको कि वस्तुपरक माना जाता है—जैसे कि प्रबंधकाव्य, प्राचीन शैली के स्फुट मुक्तक, नाटक, आदि में भी—व्यक्ति-तत्व का एकांत अभाव सर्वथा असम्भव है। उदाहरण के लिए प्रबंध-काव्य में कवि अपनी बात न कहकर दूसरों की बात अर्थात् इतिहास की कथा कहता है। प्राचीन शैली के स्फुट मुक्तकों में भी किसी क्षणिक स्थिति अथवा प्रसंग का चित्रण होता है—उसमें भी कवि अपनी बात न कह कर प्रायः सर्वसाधारण की बात कहता है। नाटक में कवि की स्वतंत्रता और भी छिन जाती है। वह अपनी बात कहना दूर रहा, अपनी ओर से भी प्रायः कुछ नहीं कह सकता। पारिभाषिक रूप से यह ठीक है, परन्तु वास्तविक रूप में व्यक्तितत्व का अभाव यहाँ भी नहीं है। प्रबन्ध-काव्य में घटनाएं इतिहास की अवश्य हैं, परन्तु उनका नियोजन कवि का अपना होता है अन्यथा इस काव्य का स्वतंत्र अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। कथ इतिहास की है परन्तु उसका ध्वन्यर्थ या संदेश कवि का अपना है जो उसके अपने जीवन-दर्शन का प्रतिफलन है। यही बात प्रबन्ध-काव्य के पात्रों के विषय में भी कही जा सकती है। साधारणतः यही लगता है कि तुलसी और राम एक व्यक्ति नहीं हैं परन्तु क्या मानस के राम का सूक्ष्म अस्तित्व तुलसी के अंतर्मन

में विद्यमान नहीं था ? यदि यह सत्य नहीं है तो 'तुलसी के राम वाल्मीकि के राम से भिन्न हैं' यह उक्ति ही निरर्थक हो जाती है। मुक्तक के विषय में यह सिद्धांत और भी प्रत्यक्ष रूप से घटित हो जाता है। गाथा सप्तशती, आर्या-सप्तशती, अमरुक-शतक या बिहारी-सतसई के छंदों में उनके रचयिताओं की सीधी आत्माभिव्यक्ति न होकर प्रसंगों अथवा मनोदशाओं का चित्रण ही है, परन्तु इन प्रसंगों अथवा मनोदशाओं का अस्तित्व इन कवियों की स्वानुभूति से पृथक मानना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार नाटक में भले ही कवि अपनी बात न कहे, भले ही उसे अपनी ओर से कहने का अवकाश न हो, परन्तु उस नाटक का मूलार्थ या मूल संदेश क्या कवि के अपने जीवन-दर्शन से भिन्न हो सकता है ! सबसे अधिक अव्यक्तिगत नाटक शेक्सपियर के माने जा सकते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि यदि पात्रों में नाटककार की प्रतिच्छवि अनिवार्य है, तो क्या यह माना जा सकता है कि हेमलेट, ओथेलो, मेकबैथ, फ़ालस्टाफ़, हैनरी पंचम, जाकेज़, ओफ़ीलिया, रोज़ालेंड, सर एन्ड्रूज़ आदि सभी में शेक्सपियर की प्रतिच्छवि थी। बात कुछ विचित्र-सी शायद लगे पर इसका उत्तर निस्संदेह ही 'हां' है। शेक्सपियर के अद्भुत व्यक्तित्व की महत्ता का रहस्य ही यह है कि वह इतना व्यापक और लचीला था कि व्यक्ति के अधिकाधिक रूप उसमें अंतर्भूत थे। शेक्सपियर के अद्भुत व्यक्तित्व का प्रसार वास्तव में हैनरी पंचम से जाकेज़ तक, और हेमलेट से फ़ालस्टाफ़ तक था।

कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य के सभी रूपों में व्यक्ति-तत्व का अस्तित्व अनिवार्य है, परन्तु उनमें मात्रा का अंतर है और अभिव्यक्ति की विधि का अंतर है। उपर्युक्त सभी रूपों में व्यक्तितत्व अवश्य है, परन्तु वह प्रच्छन्न है। उसकी अभिव्यक्ति अप्रत्यक्ष है। यह आवरण गीतिकाव्य में हट जाता है—वहाँ कवि को प्रत्यक्ष आत्म-निवेदन का पूर्ण अवकाश है। वास्तव में यह व्यक्ति-तत्व गीति-काव्य की आत्मा है। सूर, तुलसी तथा अन्य भक्त कवियों के आत्म-निवेदन के पद और मीरा की विरह-विभोर आत्मा की उद्‌गीतियां प्राचीन हिंदी-साहित्य में शुद्ध गीति-काव्य के अपूर्व उदाहरण हैं। हिन्दी के नवीन गीतिकाव्य को अंग्रेजी गीतिकाव्य से प्रेरणा मिली है। उसका पहला रूप छायावाद में मिलता है जो वहां के रोमानी काव्य से प्रेरित है। छायावाद में भी तत्कालीन जीवनगत परिस्थितियों तथा काव्यगत परम्पराओं के कारण आत्मतत्व अव्यक्त ही है। उसकी अभिव्यक्ति अत्यंत सूक्ष्म है जो अनेक झिलमिल आवरणों में से कभी-कभी दीख जाती है। परन्तु धीरे-धीरे ये आवरण हटने लगे और कवि का

अन्तर स्पष्ट झलकने लगा। छायावाद युग के उत्तरार्ध में अनेक प्रकार के बौद्धिक तथा भौतिक प्रभावों के कारण व्यक्ति अपने प्रति अधिक जागरूक होने लगा—उसमें आत्म-चेतना और आत्म-विश्वास की मात्रा बढ़ने लगी और वह प्राकृतिक तथा दार्शनिक प्रतीकों के आवरण त्याग साहसपूर्वक अपने हर्ष-विषाद को प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त करने लगा। इस तरह, एक प्रकार की अतिशय आत्मपरक कविता का जन्म हुआ जिसका प्रभाव हिन्दी के नवयुवक कवियों पर संक्रामक होकर पड़ा, और आर्थिक और शृंगारिक कुंठाओं से पीड़ित तत्कालीन समाज अपने मन के प्रत्यक्ष शब्द-चित्रों की ओर स्वभावतः अत्यंत वेग से आकृष्ट होने लगा। इस कविता का अपना पृथक वैशिष्ट्य है। एक ओर जहां यह प्राचीन आत्मनिवेदनपूर्ण काव्य से भिन्न है, दूसरी ओर छायावाद की प्रच्छन्न आत्माभिव्यक्तियों से भी इसका पार्थक्य है। प्राचीन आत्मनिवेदनपूर्ण काव्य का आलम्बन अनिवार्यतः ईश्वर है, उसकी पीड़ा आध्यात्मिक है। भारत के प्राचीन नैतिक आदर्श और उनपर आश्रित काव्य-मर्यादा ईश्वर के अतिरिक्त और किसी के सम्मुख अपनी आत्मा को उघाड़ा करने की अनुमति दे ही कैसे सकती थी? काव्य में अपने सुख-दुःख की अभिव्यक्ति के विरुद्ध आरम्भ में ही रसाचार्यों ने आपत्ति उठाई है—उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि अपनी व्यक्तिगत रति आदि को समाज के सम्मुख व्यक्त करना लज्जास्पद एवं रस में बाधक है। इस प्रकार आध्यात्मिक धरातल से नीचे उतर कर भौतिक धरातल पर आत्मपरक कविता लिखना शास्त्रीय दृष्टि से एक प्रकार से वर्जित ही था। छायावाद ने काव्य-परम्पराओं को तो नहीं माना, परन्तु नैतिक आदर्शों का आतंक उस पर भी गहरा था, इसके अतिरिक्त सीधी अभिव्यक्ति भी उसको ग्राह्य नहीं थी। अतएव उसको भी अपने व्यक्ति-तत्व को, प्रच्छन्न रखते हुए, प्रतीकों के द्वारा ही अभिव्यक्त करना पड़ा। वह भी अपने राग-विराग को प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त करने का साहस नहीं कर सका। हिन्दी में वैयक्तिक कविता के ये ही दो स्पष्ट रूप मिलते हैं। इन दोनों से आलोच्य कविता अपनी ऐहिकता और प्रत्यक्षता के कारण भिन्न है। रीति युग के मुक्तकों से तो उसकी आत्मा और स्वरूप दोनों ही भिन्न हैं। वह कविता आत्माभिव्यंजक न होकर वस्तु अर्थात् परिस्थिति और प्रसंग आदि की व्यंजक थी, उसका उद्देश्य आत्माभिव्यंजन की अपेक्षा कला प्रदर्शन ही अधिक था। इसलिए उसका सहज माध्यम गीति-काव्य न होकर मुक्तक काव्य ही रहा।

प्रादुर्भाव और लोकप्रियता के कारण

इस कविता के प्रादुर्भाव और प्रचार के अनेक ऐतिहासिक-सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक-साहित्यिक कारण थे। ऐतिहासिक-सामाजिक कारणों में सबसे प्रमुख तो थी तत्कालीन जीवन में व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा। वह दर्शन, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था तथा समाज-व्यवस्था सभी में व्यक्तिवाद का युग था—जब अनेक स्वदेशी-विदेशी प्रभावों के कारण मानव-चेतना मध्ययुगीन सामन्तवादी रूढ़ियों से प्रायः मुक्त हो चुकी थी, और अपनी सत्ता के प्रति जागरूक हो गयी थी। दर्शन के क्षेत्र में बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद की पुनः प्रतिष्ठा, राजनीति में व्यक्ति का बढ़ता हुआ प्रभाव, अर्थ-व्यवस्था में पैतृक सम्पत्ति के स्थान पर व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ द्वारा अर्जित पूंजी का विकास, और समाज के क्षेत्र में व्यक्ति के प्रयत्नों की वर्धमान सफलता आदि ऐसे सार्वभौम कारण उपस्थित हो गये थे जिनसे व्यक्तिवाद को अत्यंत प्रोत्साहन मिला। समाज में मध्यवर्ग का महत्व बढ़ गया। वही तत्कालीन समाज का प्रवक्ता बना—शिक्षा, साहित्य तथा संस्कृति, और उधर राजनीति का भी नेतृत्व उसके हाथ में आ गया। इस वर्ग की चेतना अतिशय व्यक्तिवादी रही है—इसका सारा जीवन व्यक्तिगत संघर्ष और उसकी सफलता-विफलता की कहानी रहा है।

साहित्य की शक्तियों का केन्द्र मध्यवर्ग में ही स्थित होने के कारण साहित्य में उत्कट व्यक्तिवाद की चेतना का आविर्भाव होना स्वाभाविक ही था। छायावाद-काल के पूर्वार्द्ध तक तो, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, जीवन पर एक मात्र आदर्शवादी चिंताधारा का ही प्रभाव था, परन्तु इसके उपरांत सन् ३१ के सत्याग्रह-आन्दोलन की विफलता से देश की चिंताधारा आदर्शवाद से कुछ खिन्न-सी होने लगी। समाज में कुछ ऐसे तत्व धीरे-धीरे उभरने लगे जो गांधी जी के आदर्शवाद से असंतुष्ट होकर यथार्थ समस्याओं का यथार्थ समाधान चाहते थे। राजनीति में गांधीवाद के विरुद्ध वामपक्षीय समाजवादी चिंताधारा का धीरे-धीरे आविर्भाव होने लगा, और यह प्रभाव स्वभावतः राजनीति से आगे बढ़कर सामाजिक और बौद्धिक जीवन पर भी पड़ने लगा। आर्थिक विषमताओं ने—बेकारी आदि ने—उसे और प्रोत्साहन दिया। इसके फलस्वरूप सूक्ष्म आदर्शपरक जीवन के प्रति अनास्था और स्थूल यथार्थपरक जीवन के प्रति आस्था बढ़ने लगी। विश्वास की भूमि डगमाने लगी और विद्रोह एवं संदेह के अंकुर फूटने-फैलने लगे। पर यह भी संधिकाल ही था। साम्यवाद की रूपरेखा भारतीय नवयुवकों के मन में स्पष्ट नहीं थी। उसकी धुंधली झलक भर उन्होंने देखी थी, प्रकाश

उनकी आंखों में नहीं उतरा था । उसका असंतोष, विद्रोह और अनास्था तो उन्होंने ग्रहण कर ली थी, परन्तु उसकी सामाजिक चेतना का आभास उन्हें नहीं हुआ था । परिणाम यह हुआ कि वामपक्षीय चिंताधारा से उस समय तक व्यक्तिवाद को उभार ही मिला, व्यक्तितत्व के सामाजिक उन्नयन की आवश्यकता का अनुभव तब तक नहीं हुआ । व्यक्ति में यह चेतना जग गई कि मेरा अपना अस्तित्व किसी से कम नहीं है, मेरे राग-विराग, हर्ष-विषाद का मेरे लिए सबसे अधिक महत्व है, उसको स्वीकार न करना आत्महीनता का सूचक है, और इस आत्महीनता को उसने पूरी शक्ति से झटक कर दूर फेंक दिया ।

पर इससे मूल स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ । जीवन की विषमताएं तो वैसी ही बनी हुई थीं । आर्थिक क्षेत्र में बेकारी तथा उचित वृत्ति का अभाव, प्रेम के क्षेत्र में रूढ़ियों का आतंक अभी ज्यों का त्यों बना हुआ था, अतएव अर्थ तथा काम-जन्य कुंठाएं और भी तीव्र हो गई थीं क्योंकि अहंता तो उद्‌बुद्ध हो गई थी, पर उसकी अभिव्यक्ति के वांछित साधन और भी कम हो गये थे। पर जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा है कुंठा और काव्य का सीधा सम्बन्ध हैं। वाह्य अभिव्यक्ति का अभाव मानसिक संवेदनाओं को तीव्रतर कर देता है और उनके साथ-साथ अनुभूति और कल्पना की समृद्धि बढ़ जाती है। जो वस्तु वाह्य जगत में नहीं मिलती मन उसे अंतर्जगत में पाने का प्रयत्न करता है। जो होंठ चुम्बनों से वंचित रहते हैं वे गाने लगते हैं :-Lips that fail to kiss begin to sing। यह ठीक है कि नैतिक दृष्टि से अधिक स्वस्थ काव्य की सृष्टि कदाचित् इस प्रकार सम्भव न हो परन्तु अनुभूति की तीव्रता और कल्पना का ऐश्वर्य भी काव्य की बहुत बड़ी विभूति है, और कुंठाओं की तीव्र प्रेरणा से जो गीत फूटते हैं वे मानव-मन को सहज ही प्रिय होते हैं। इस प्रकार अभाव की चेतना काव्य की बड़ी प्रेरक शक्ति है। क्योंकि संतोष में जहाँ शांत रहने की प्रवृत्ति होती है, वहां अभाव में पुकारने की। कुछ मनोविश्लेषकों ने अभाव-पूर्ति की इस भावना को काव्य की मूल प्रेरणा माना है। मूल प्रेरणा चाहे उसे मत मानिये, परन्तु वह एक प्रबल प्रेरणा अवश्य है। यह कोई सैद्धान्तिक विषय नहीं है, सामान्य अनुभूति-गम्य विषय है। हमें जिस वस्तु की जीवन में जितनी उत्कट इच्छा होगी उसका अभाव उतना ही तीव्र होगा, और हमारा मन किसी न किसीप्रकार उसकी पूर्ति करने को आतुर रहेगा। क्षति-पूर्ति जीवन का प्रकृत सिद्धान्त है। हमारे मन के चेतन तथा अचेतन दोनों ही रूप इस क्षति-पूर्ति के लिए क्रियाशील रहते हैं। चेतन मन अनेक प्रकार के

संकल्प-विकल्पों द्वारा इस अभाव को भरने का प्रयत्न करता है और अवचेतन मन अनेक प्रकार के स्वप्न-चित्रों द्वारा। काव्य इस प्रकार की क्षति-पूर्ति का अत्यंत सफल साधन है—अनादि काल से न जाने कितने मनस्वी अपने जीवन के अभावों की काव्य में पूर्ति कर पीड़ा को आनन्द में परिणत करते रहे हैं। काव्य का यह अमर वरदान है जो सदा से अपने स्रष्टा और उपभोक्ता दोनों को धन्य करता आया है। आर्थिक और शृंगारिक कुंठा से ग्रस्त पिछली दशाब्दी के नवयुवक को इस काव्य विशेष में प्रत्यक्ष आत्मानुभूति का परम सुख मिला, और आज भी उसकी समाप्ति नहीं हुई है। यह इसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा रहस्य था :

छिपाने को छिपा लेता
विकल चीत्कार मैं सारा
मगर अभिव्यक्ति की मानव-
सुलभ तृष्णा नहीं जाती ! (अंचल—लालचूनर)

इससे पहले, काव्य में प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति दुर्लभ ही थी। मुझे स्मरण है कि एक बार ऐसे ही प्रसंग में कवि पंत ने कहा था कि मुझे अपने व्यक्तिगत राग-द्वेषों को कविता में व्यक्त करना अशोभन लगता है—मुझे इसमें बड़ा संकोच होता है। उनके ये शब्द न केवल छायावादी मनोवृत्ति को ही व्यक्त करते हैं, वरन इनके द्वारा एक प्रकार से भारत की परम्परागत मनोवृत्ति का भी निदर्शन होता है। काव्य में प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति के प्रति एक विशेष संकोच हमारे यहां परम्परा से चला आया है। हमारे रीति-कवियों ने भी साधारण रति को ही मुखर किया है, व्यक्तिगत रति को नहीं। छायावाद में संकोच की मात्रा और भी अधिक मिलती है—उसने न जाने कितने प्रतीकों और संकेतों में लपेट कर अपने हर्ष-विषाद को व्यक्त किया है। बच्चन और उनके साथियों ने, और उनसे पूर्व कहीं-कहीं निराला और भगवती बाबू ने, इस संकोच को साहसपूर्वक त्याग कर काव्य में स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त किया—और उसका स्वागत हुआ।

प्रेरक भाव

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है इस कविता का विषय आज के समाज की व्यक्तिगत समस्याएं हैं। ये समस्याएं मूलतः काम और अर्थ के चारों ओर केन्द्रित हैं। काम के दो रूप हैं एक रसिकता और दूसरा प्रेम। सामान्य

तल पर काम रसिकता है और वैयक्तिक तल पर प्रेम। रीति युग में रसिकता का ही प्राधान्य था जो सामन्तीय जीवन-दर्शन का परिणाम थी। द्विवेदी युग में उसके विरुद्ध भीषण प्रतिक्रिया हुई और काम को नैतिक रूप देने का प्रयत्न किया गया। नीतिबद्ध होकर काम विवाह और गार्हस्थ्य के सामाजिक दायित्वों में बंध गया। मन और शरीर की सहज प्रवृत्ति पर कर्तव्य और नीति-मर्यादा का अंकुश लग गया। काम के वैवाहिक प्रेम का रूप धारण कर लेने पर उसमें एकनिष्ठता के गांभीर्य का समावेश तो हो गया, परन्तु नीति के बंधनों में जकड़ कर उसकी सहज स्वच्छन्दता नष्ट हो गई। सहज गति के अवरुद्ध हो जाने पर उसकी स्फूर्ति और प्राणदा शक्ति विलुप्त सी हो गई। यदि विवाह प्रेम का परिणाम होता तब भी ठीक था, परन्तु इस युग में वह भी सम्भव नहीं था। विवाह से पूर्व प्रेम तो एक सहज प्रवृत्ति मानी जा सकती है, परन्तु विवाहोपरान्त प्रेम सामाजिक दृष्टि से बुद्धिसंगत होते हुए भी एक असहज स्थिति है—जिसकी सफलता संयोग पर निर्भर है। उस युग में प्रायः यही हो रहा था। महाशय और देवी जी का बाहरी सामाजिक जीवन चाहे अच्छा रहा हो परन्तु उनके जीवन में उल्लास और प्रेरणा का अभाव था। छायावाद युग में आकर स्थूल सामाजिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और सूक्ष्म मानसिकता का प्रादुर्भाव हुआ। अनेक दार्शनिक, आध्यात्मिक प्रभावों के फलस्वरूप प्रेम को उस युग में एक रोमानी रहस्यात्मक अंतश्चेतना के रूप में ग्रहण किया गया जो स्थूल शारीरिकता और बाह्य नैतिकता से परे थी। उसमें एक स्निग्ध-पवित्र भाव का सहज मिश्रण हो गया। परन्तु यह प्रेम बहुत कुछ अव्यक्त-सा था। पंत के उच्छ्वास या आंसू में अनेक प्रकार के प्राकृतिक काव्य-उपादानों के बीच जैसे किसी बालिका की सुधि कभी-कभी चमक जाती है, वैसे ही छायावाद में शत-शत रम्य कल्पना-क्रीड़ाओं में कभी-कभी प्रेम की झलक दिखाई दे जाती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि छायावाद काव्य में प्रेम का स्वच्छन्द रोमानी रूप ग्रहण तो किया गया, परन्तु वह अर्ध-व्यक्त रहा। पुरुष और नारी के बीच एक सूक्ष्म रंगीन आकर्षण भाव जग गया था, परन्तु अभी दोनों के बीच अनेक शतरंगे झिलमिल पर्दे पड़े हुए थे। छायावाद की बाद की नई पीढ़ी के कवियों ने प्रेम को व्यक्त रूप में वैयक्तिक धरातल पर स्वीकार किया—नारी विशेष के प्रति अपने मन के आकर्षण को और तज्जन्य उल्लास-विषाद को प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त किया। इस प्रेम के स्वरूप का विश्लेषण करने पर इसकी कुछ विशेषताएं सहज ही स्पष्ट हो जाती हैं:–१. सामाजिक और नैतिक रूढ़ियों के प्रति आक्रोश।

२. रोमानी स्वच्छन्दता का आग्रह। ३. प्रेम के लौकिक रूप की स्वीकृति अर्थात् मन और शरीर के प्रति सहज आकर्षण। ४. कुंठाजन्य विषाद, और, ५. निस्संकोच तथा कहीं-कहीं मुखर अभिव्यक्ति। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह छायावाद युग में ही आरम्भ हो गया था, परन्तु उसमें वाञ्छित साहस का अभाव था। अतएव यह विद्रोह-भावना अवचेतन में जाकर बैठ गई थी और स्पष्ट रूप से व्यक्त न होकर प्रतीकों और स्वप्न-चित्रों के द्वारा अभिव्यक्त हो रही थी। बच्चन आदि ने उसको खुले शब्दों में चुनौती दी। उन्होंने नीति की जीर्ण मर्यादाओं का खोखलापन दिखाते हुए प्रवृत्ति की सहज सत्यता की प्रतिष्ठा की और समाज की दाम्भिक मनोवृत्ति की भर्त्सना की। पंत ने जहाँ दबे स्वर में अपनी निराशा ही व्यक्त की थी :

कभी तो जग में पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मरु की मरीचिका आज
मुझे गंगा की पावन धार।

वहां बच्चन और अंचल आदि ने आह्वान-भरे शब्दों में आक्रोश व्यक्त किया :—

वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी !

इस प्रकार सामाजिक नीति-पाश को चुनौती देकर यह कवि-वर्ग स्वच्छन्दता की ओर बढ़ा। प्रेम नारी और पुरुष का प्रकृत आकर्षण है। समाज अर्थात् वर्ण, वर्ग आदि के बंधन अस्वाभाविक हैं, प्रेम को इन कृत्रिम बन्धनों में जकड़ कर रखना अनुचित है, अस्वास्थ्यकर है। इस प्रकार नैतिक दमन से मुक्त होकर मन रंगीन रोमानी सपने देखने लगा :

१. मेरा वश चलता मैं
बन जाता कौमार्य तुम्हारा।
होठों पर निर्माल्य अछूता
बनकर मैं छा जाता।
अंगों के चंपई रेशमी
परदों में सो जाता।
आंखों में सुरमई गुलाबी
चितवन में खो जाता।

मेरा वश चलता मैं
बन जाता सौन्दर्य तुम्हारा। (अंचल)

दूज कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तस्वीरें,
सेज सुनहली, कसे हुए बंधन में चूड़ी का झर जाना,
निकल गईं सपने जैसी वे मीठी रातें,
याद दिलाने रहा
यही छोटा-सा टुकड़ा। (गिरिजा कुमार माथुर)

उसमें अब इतना साहस आ गया था कि प्रेम के लौकिक रूप को—अर्थात् मन के साथ शरीर के आकर्षण को भी खुले शब्दों में स्वीकार कर सके :

मैं काश तुम्हें कुछ घड़ियों को रानी ! एकाकी पा जाता।

चिरयुवा कवि नवीन पहले ही ललकार कर कह चुके थे :

यों भुज भर कर हिये लगाना है क्या कोई पाप
ललचाते अधरों का चुम्बन क्यों है पाप कलाप ?

परन्तु ये तो थीं अन्तर्जगत की बातें। बाह्य जगत की कठोर वास्तविकताएं इनसे भिन्न थीं। बाह्य जीवन में, भारतीय समाज में—विशेषकर हिन्दीभाषी समाज में अभी इस स्वच्छन्दता के लिए अवकाश नहीं था। युवक और युवती का साहचर्य अब भी अत्यन्त विरल था। सहशिक्षा आदि का प्रचार आरम्भ ही हुआ था, सामाजिक तथा साहित्यिक गोष्ठियों में भी साहचर्य के अवसर संयोगवश ही कभी आते थे। हाँ, इन क्षेत्रों में युवती का पदार्पण अवश्य हो गया था, पर वह और उसके अभिभावक अभी अत्यन्त सतर्क थे। अतएव स्वच्छन्द प्रेम अभी तक एक मधुर सिद्धान्त भर ही था—जीवन में उसकी अभिव्यक्ति नहीं मिल रही थी। अतएव इस प्रेम में घुमड़न और विषाद का धुआं ही अधिक था, उल्लास और स्फूर्ति का प्रकाश नहीं था। इसी कारण बाद में प्रगतिवाद ने इसे अस्वस्थ और रुग्ण मनोवृत्ति कह कर तिरस्कृत किया। यह साहचर्य अब ज्यों-ज्यों बढ़ रहा है त्यों-त्यों इसके साथ प्रेम का स्वरूप अधिक विशद होता जा रहा है। घुमड़न और विषाद की सघनता कम हो रही है और उल्लास और स्फूर्ति का अब कविता में एकांत अभाव नहीं रहा। आज से दश वर्ष पूर्व के गीतों से आज के गीतों का रूप स्पष्टतया भिन्न है।

इस कविता का दूसरा मूल विषय है—आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न समस्याएं। इसका प्रादुर्भाव गत महायुद्ध से ४-५ वर्ष पूर्व चौथी दशाब्दी के मध्य में हुआ

था। उस समय मध्यवर्ग के युवक के सामने आर्थिक समस्या अत्यन्त उग्र रूप में उपस्थित थी। इसका कारण यह था कि अर्थ-व्यवस्था का पुराना ढांचा उस समय लगभग टूट चुका था। मध्यम और उच्च शिक्षा सुलभ और सुकर हो गई थी—साधारण मध्य-वित्त का युवक अपना जीवन-स्तर ऊंचा करने के लिए इस ओर बड़े वेग से आकृष्ट हो रहा था। शिक्षा प्राप्त कर जब वह कालिज से लौटता तो स्वभावतः उसकी दृष्टि अपने पैतृक व्यवसाय—कृषि, व्यापार आदि की ओर न जाकर अच्छे-अच्छे पदों की ओर जाती थी जहां आय अच्छी होने के साथ-साथ सम्मान और प्रतिष्ठा थी और उसकी शिक्षा आदि का उपयोग भी था। परन्तु शिक्षित युवक-समाज की वर्धमान संख्या को देखते हुए इस प्रकार के पदों की संख्या कहीं स्वल्प थी। विदेशी सरकार को व्यवस्था भर बनाये रखने से मतलब था। उससे आगे वह कुछ करने को तैयार नहीं थी। देश की वर्धमान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विकास-योजनाएं अपेक्षित थीं, परन्तु उनकी न सरकार को चिंता थी, और न सरकार के उपजीवी पूंजीपतियों को। इस भयंकर वैषम्य से जूझना पड़ रहा था शिक्षित युवक-समाज को जिसके पास न साधन थे और न शक्ति, केवल इस वैषम्य की चेतना भर थी। कालिज-जीवन में उच्च शिक्षा-दीक्षा से उसमें मनस्विता तथा आत्म-सम्मान की भावना जग रही थी, उसकी संवेदनशीलता का विकास हो रहा था। भावी जीवन के अनेक स्वप्न-चित्र मन में बन रहे थे। परन्तु कालिज के बाहर की भूमि बड़ी कठोर थी, जीवन की परिधि अत्यन्त संकुचित और प्रगति का मार्ग अवरुद्ध था। कालिज से बाहर आने पर काफ़ी दिनों तक तो झटके ही खाने पड़ते थे, और फिर भी प्रायः मिलती थी मामूली मास्टरी या क्लर्की जिसमें आर्थिक कठिनाइयों की रगड़ जो थी वह तो थी ही, पर आत्मसम्मान की भावना को गहरी चोट लगती थी। इन चोटों और रगड़ों से उसका अहंभाव कुचले हुए मणिधर के समान उद्बुद्ध हो गया था। गिरिजाकुमार की कुछ कविताओं में यह भावना अत्यन्त सुन्दर रूप में व्यक्त हुई है। यह आहत अहंभाव वैयक्तिक कविता का दूसरा मूल विषय है जिसकी प्रेरणा कदाचित प्रेम से भी अधिक प्रबल रही है। इसकी अभिव्यक्ति कई रूपों में हुई है : व्यक्ति का व्यक्ति के अत्याचार के प्रति विद्रोह, व्यक्ति का संस्था अर्थात् जाति, वर्ग, वर्ण आदि व्यवस्था के प्रति विद्रोह, और आगे, मानव व्यक्ति का नियति के प्रति विद्रोह, और इससे भी आगे, मानव व्यक्ति का ईश्वर के प्रति विद्रोह।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विद्रोह सर्वथा कुण्ठित था, इसमें

गति न होकर हुंकार भर थी, इसका वेग बाहर न होकर अन्दर ही था, इसमें बाह्य जीवन का संघर्ष न होकर अन्तर्मन की टकराहट थी जो अत्यन्त प्रबल उद्गीतों में अभिव्यक्त हुई। इस प्रकार इस कविता में आर्थिक संघर्ष का बाह्य सामूहिक रूप अंकित नहीं किया गया, उसका एकांत वैयक्तिक आंतरिक रूप ही व्यक्त किया गया। ये भावनाएं कितनी प्रचुर हैं इसके प्रमाण-रूप में केवल एक ही कवि बच्चन की एक पुस्तक 'एकांत संगीत' से ही सभी उदाहरण देता हूं:—

१. व्यक्ति के प्रति व्यक्ति का विद्रोह—

मेरे पूजन आराधन को,
मेरे सम्पूर्ण समर्पण को,
जब मेरी कमज़ोरी कह कर
मेरा पूजित पाषाण हँसा !
तब रोक न पाया मैं आँसू !!

२. व्यक्ति का संस्था के प्रति विद्रोह—

धर्मों-संस्थाओं के बंधन,
तोड़ बना है वह विमुक्त-मन,
संवेदना-स्नेह--संबल भी खोना उसे पड़ा है !
अकेला मानव आज खड़ा है !!
जब तक हार मान कर अपने
टेक नहीं देता वह घुटने,
तब तक निश्चय महाद्रोह का झंडा सुदृढ़ गड़ा है !
अकेला मानव आज खड़ा है !!

३. व्यक्ति का नियति के प्रति विद्रोह—

क्षत शीश मगर नत शीश नहीं,
बन कर अदृश्य मेरा दुश्मन
करता है मुझ पर वार सघन,
लड़ लेने की मेरी हवसें, मेरे उर के ही बीच रहीं !
क्षत शीश मगर नत शीश नहीं,

४. व्यक्ति मानव का ईश्वर के प्रति विद्रोह—

प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर !
युद्ध-क्षेत्र में दिखला भुजबल

रह कर अविजित, अविचल प्रतिपल,
मनुज-पराजय के स्मारक हैं मठ, मस्जिद, गिरजाघर !

प्रस्तुत कविता के ये ही दो मूल प्रेरक भाव हैं। इनके अतिरिक्त एक और भाव भी इसमें प्रायः व्यक्त हुआ है और उसका भी तत्कालीन युवक-समाज की एक आंतरिक समस्या से सम्बन्ध है। यह है सामाजिक दायित्व और वैयक्तिक भावना के बीच द्वंद्व। गत महायुद्ध से पहले जब इस प्रकार की कविता का प्रादुर्भाव हुआ था, राजनीतिक संघर्ष प्रायः यथापूर्व बना हुआ था। देश की परतंत्रता, अनेक राजनीतिक आन्दोलनों की विफलता युवक के आत्माभिमान के लिए एक चुनौती थी, और उसकी चेतना में प्रायः एक द्वंद्व उत्पन्न हो जाता था। नरेन्द्र, शिवमंगल सिंह, आदि की कुछ वैयक्तिक कवि- ताओं में इसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट है। परन्तु यह भाव भी इस कविता में व्यक्ति के ही एकांत भाव के रूप में स्पष्ट हुआ है, राष्ट्रीय चेतना के रूप में नहीं। परतंत्रता के विरुद्ध विद्रोह एक ऐसा व्यापक प्रभाव था जिससे व्यक्ति की चेतना अपने एकांत सुख-दुःख की परिधि में भी अप्रभावित नहीं रह सकती थी।

आज परिस्थिति बदल जाने पर यह द्वंद्व-भावना स्वभावतः ही विलुप्त हो गई है।

सारांश यह है कि यह कविता व्यक्ति के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद की कविता है, और व्यक्ति का हर्ष-विषाद क्या है ? मन की जय और पराजय ! अस्मिता वृत्ति का परितोष सुख है और कुंठा दुःख। व्यक्ति की चेतना इसी हिंडोल पर झूलती रहती है। वैयक्तिक कविता में मन की इसी जय और पराजय की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है।

विचारधारा

इस कविता का मूल दर्शन स्पष्टतया ही व्यक्तिवाद है। पर व्यक्तिवाद के इस रूप की व्याख्या करना आवश्यक है क्योंकि व्यक्तिवाद की परिधि में तो अद्वैत की चरम स्थिति से लेकर घोर अहंता और निकृष्टतम स्वार्थवाद तक का अंतर्भाव हो सकता है। प्रस्तुत कविता के व्यक्तिवाद की ओर थोड़ा बहुत संकेत तो पहले ही किया जा चुका है, यहां उसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है। यह व्यक्तिवाद आध्यात्मिक नहीं है, भौतिक है। छायावाद में भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रभावों के कारण एक विश्वात्मा की स्वीकृति कम से कम सिद्धान्त रूप में अवश्य थी, परन्तु इस कविता का ऐसा कोई आस्तिक आधार नहीं है। इस
15 व्यक्तिवाद मान्य आस्थाओं के प्रति संदेह और विद्रोह को लेकर चला है।

उसके मूल में एक ओर सूक्ष्म आध्यात्मिक विश्वासों के प्रति संदेह और दूसरी ओर नैतिक और सामाजिक विधान के प्रति विद्रोह का भाव है। अतएव आरम्भ में यह नकारात्मक जीवन-दर्शन को लेकर खड़ा हुआ है। बच्चन की कविता में संदेहवाद, भाग्यवाद या नियतिवाद और कहीं-कहीं तो निषेधवाद (nihilism) तक मिलता है; और यह उनमें ही नहीं उनके प्रायः सभी समवयस्क कवियों में मिलता है। अंचल की कविता में यहां तक कि दिनकर जैसे स्वस्थ कवि के आरम्भिक काव्य में भी नाश का आह्वान मिलता है। यह एक अंधा जीवन-दर्शन था, और अधिक नहीं चल सकता था क्योंकि दर्शन का उद्देश्य मानव को आत्मबल और अवलम्ब देना है, उसकी निराशा को घनीभूत और शक्ति को जर्जर करना नहीं है। परन्तु मानव के लिए जब तक इस तरह का अवसाद अस्वाभाविक नहीं माना जाता, तब तक इससे उद्भूत दर्शन भी अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। सामूहिक धरातल पर तो नहीं, परन्तु वैयक्तिक धरातल पर भाग्यवाद तथा उससे सम्बद्ध अन्य नकारात्मक दर्शन मानव के लिए सहज स्वाभाविक हैं—उनके औचित्य की बात हम नहीं करते।

पर नकारात्मक दर्शन से अभिप्राय यह नहीं है कि उसका कोई भावात्मक पक्ष ही नहीं होता—प्रत्येक भाव में जहां अभाव छिपा हुआ है, वहां प्रत्येक अभाव में भी भाव की सत्ता है। भाग्यवाद तथा संदेहवाद आदि का भावात्मक पक्ष एक तो भोगवाद ही है। जब विश्व में सभी कुछ नियति के इंगित पर मनमाने ढंग से चल रहा है, तो मानव के लिए यह सोचना स्वाभाविक ही है कि प्राप्त जीवन-क्षणों में उपलब्ध साधनों का अधिक से अधिक उपभोग किया जाये। यह उपभोग तात्कालिक आनन्द देने के अतिरिक्त अनिवार्य नियति के विस्मरण में भी सहायक होता है। भारत में चार्वाक दर्शन का और ईरान में उमर ख़ैयाम के रंगीन क्षणवाद का आधार यही सिद्धान्त था। भोगवाद के अतिरिक्त इस दर्शन का एक दूसरा भावात्मक रूप भी है जो उससे अधिक स्पृहणीय है और उसका आधार है मानव-सहानुभूति। यह दुःखवाद का सहज परिणाम है। जिस बान्धव-भाव की सृष्टि बड़े-बड़े स्वस्थ जीवन-सिद्धान्त नहीं कर पाते, वह दुःख की समानता द्वारा सहज ही जागृत हो जाता है। सुख का समभागी प्रतिद्वंद्वी है और दुःख का समभागी बान्धव। यह सहज मानव-सहानुभूति या बांधव-भाव व्यापक मानववाद का ही एक अंग है। इसके अतिरिक्त मानववाद का एक दूसरा और अधिक प्रत्यक्ष रूप भी इस जीवन-दर्शन में मिलता है और वह है संस्था या व्यवस्था के रूढ़ि-पाश के विरुद्ध मानव-आत्मा का

विद्रोह। यह ठीक है कि इसका रचनात्मक रूप प्रस्तुत कविता में हमारे सामने नहीं आता, परन्तु उसकी प्रबल स्वीकृति तो है ही। इस प्रकार इस नकारात्मक और ऊपर से अस्वस्थ प्रतीत होने वाले जीवन-दर्शन में मानववाद के दो मूल-तत्व मानव-सहानुभूति और मानव-मुक्ति वर्तमान थे, जो आगे चलकर व्यक्त हो गये। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया यह व्यक्तिवाद भाग्यवाद और भोगवाद से मानववाद की ओर बढ़ता गया। नरेन्द्र, अंचल, गिरिजाकुमार आदि जल्दी ही क्षयी रोमांस के गीत छोड़ स्वस्थ मानवीय रोमांस के गीत गाने लगे। स्वयं बच्चन का दृष्टिकोण सर्वथा भावात्मक हो गया। अतएव प्रस्तुत काव्य की चिन्ताधारा का विश्लेषण संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है :

१. इसका आधार-भूत दर्शन व्यक्तिवाद है।
२. इस व्यक्तिवाद का आधार अद्वैतवाद या विश्वात्मवाद का सूक्ष्म आध्यात्मिक सिद्धांत नहीं है।
३. इसका आधार मानव के भौतिक अस्तित्व की स्वीकृति है, अतएव मानव के ऐहिक संघर्ष की जय-पराजय से ही इसकी उद्‌भूति हुई है।
४. इसमें एक ओर संदेहवाद और भाग्यवाद जैसे नकारात्मक जीवन-दर्शनों के और दूसरी ओर मानववाद के अंतस्सूत्र वर्तमान हैं। नकारात्मक जीवन-दर्शनों की चुनौती और उपभोग-वृत्ति, और मानववाद की मानव-सहानुभूति तथा मानव-मुक्ति के तत्वों से इस के कलेवर का निर्माण हुआ है।
५. इसका विकास अभावात्मकता से भावात्मकता की ओर होता गया है।
६. जीवन के सहज संघर्ष से उद्‌भूत होने के कारण इस जीवन-दर्शन का विकास अत्यन्त स्वाभाविक रीति से, सिद्धांतों की रगड़ से न होकर जीवन की रगड़ से हुआ है, अतएव अधिक स्वस्थ और व्यवस्थित न होते हुए भी इसमें एक सहज आकर्षण रहा है।

माध्यम

इस कविता का माध्यम गीत या स्फुट रचनाएं ही हो सकती हैं। अतिशय भावोद्रेक की प्रवृत्ति सदा गीत में फूटने की रही है। गीत वास्तव में वाणी का सबसे तरल रूप है—यह वाणी का द्रव है क्योंकि इसका सीधा माध्यम स्वर है, जबकि छंद का लय। स्वर का तारल्य स्वतः स्पष्ट ही है। इसीलिए

तो आत्मा के द्रव को अभिव्यक्त करने के लिए सदा वाणी के इस द्रव की आवश्यकता पड़ती है। जब कभी आत्मा भाव की अग्नि में पिघल कर बहने को हुई है, उसके ताप से वाणी भी द्रवीभूत हो गई है और भाव ने गीत का रूप धारण कर लिया है। इसीलिए जब-जब हमारे जीवन में भावना का प्राधान्य हुआ है, जब-जब हमारा जीवन-दर्शन व्यक्तिपरक अथवा भावपरक हुआ है, काव्य में गीत का महत्व बढ़ गया है। पिछली दो शताब्दियों में गीतों का प्रचार हिन्दी में एक साथ बढ़ जाने का यही कारण है। छायावाद के कवियों में महादेवी और निराला ने ही गीत लिखे थे—महादेवी को स्वभाव से यह नारी-सुलभ माध्यम अनुकूल पड़ा, और निराला ने अपनी संगीतप्रियता के कारण गीत को अपनाया। पर बच्चन और उनके साथियों की कविता अपनी आत्माभिव्यक्ति के दबाव से आप से आप ही गेय हो गयी। निराला के गीत जहां संगीत के स्वर-ताल में बंधे हुए हैं वहां बच्चन, नरेन्द्र आदि के गीतों में यह बात नहीं है—गीतकार को उनकी लिपियां तैयार करने में प्रायः कठिनाई होती है।

गीत के अतिरिक्त इस वर्ग के कवियों ने स्फुट छन्दोबद्ध रचनाएं तथा मुक्त छन्द भी लिखे हैं। इस विषय में कोई निश्चित नियम ढूंढ़ निकालना तो न सम्भव है और न उचित ही, फिर भी इन कविताओं के विषय और माध्यम का विश्लेषण करने पर कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं: जहाँ मूल भाव सरल और अमिश्र है, अर्थात् जहाँ आरम्भ से अंत तक एक अमिश्र भाव ही है वहां कविता का माध्यम गीत है। कोमल रसों से सम्बद्ध भाव के लिए यह और भी सत्य है। जहां मानसिक द्वंद्व की अभिव्यक्ति है, वहां कविता प्रायः छन्दोबद्ध है क्योंकि गीत की ऋजुता भावों के संघर्ष को उचित रीति से वहन नहीं कर सकती। इसी प्रकार जहां विचार का प्राधान्य है, अर्थात् कवि ने अपने मानसिक संघर्ष को ही नहीं उसके साथ अपने विचारों की उथल-पुथल को भी अभिव्यक्त किया है, वहां प्रायः मुक्त छन्द का प्रयोग हुआ है क्योंकि विचार की उत्तेजना को व्यक्त करने के लिए अधिक अवकाश और अधिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा होती है। बच्चन, नरेन्द्र, गिरिजाकुमार, अंचल, तथा उनके अन्य सहकर्मियों ने प्रायः यही किया है। इन लोगों ने अपने संयोग-वियोग के सरल भावों को गीतों में व्यक्त किया है—जैसे निशा निमन्त्रण, एकांत संगीत, मिलन यामिनी या प्रवासी के गीत आदि में; मानसिक द्वन्द्व को व्यक्त करने के लिए छन्दोबद्ध कविताएं रची हैं—जैसे मधुबाला, मधुकलश, सतरंगिनी, या पलाशवन, हंसमाला या नाश और निर्माण, आदि की अनेक रचनाओं में; विचारों की

प्रेरणा से लम्बी-लम्बी रचनाएं की हैं जो इन्हीं या अन्य संग्रहों में संकलित हैं।

अनुभूति की सीधी अभिव्यक्ति होने के कारण इस कविता में प्रायः सचेष्ट तथा अलंकृत कला नहीं है। बच्चन की कला तो अपनी ऋजुता और प्रत्यक्षता के लिए विख्यात ही है। नरेन्द्र के भी वैयक्तिक गीतों में एक अनिवार्य सहजता है। यही बात अंचल, सुमन आदि के विषय में भी सत्य है। गिरिजा-कुमार जैसे अलंकरण-प्रिय कवि ने भी जहां अपने प्रत्यक्ष सुख-दुःख की अभिव्यक्ति के गीत लिखे हैं, वहां उनमें अलंकरण की अपेक्षा सहज गुण ही अधिक है। वैसे, इन कवियों के अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार अलंकरण और सहज गुण की न्यूनाधिक मात्रा होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि आखिर व्यक्तित्व भी तो सबके एक से नहीं हैं। बच्चन के व्यक्तित्व की सादगी और सहज रुखाई गिरिजा-कुमार की रंगीन-मिज़ाजी से स्पष्टतः भिन्न है, अतएव उनकी आत्माभिव्यक्ति में भी यह अंतर स्पष्ट मिलेगा। परन्तु सब मिलाकर इस कविता की कला में सहज गुण और ऋजुता का ही प्राधान्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें रूप और रंग का अभाव है। वह तो सम्भव ही नहीं है क्योंकि यह कविता मुख्यतः युवा मन की सृष्टि है और युवा मन चाहे परिस्थितिवश रूपरंग का जीवन में उपभोग न भी कर पाये पर रूप-रंग के सपनों से उसे कौन वंचित कर सकता है ? इस कविता में भी रंगीन स्वप्न-चित्रों की कमी नहीं है। परन्तु फिर भी रंग-रूप के ये चित्र सरल हैं—इनकी कला सहज है, इनके अंकन में छायावाद के कवियों की-सी नक्काशी, जड़ाव या कढ़ाव, या रंग और रेखाओं की बारीक कारीगरी नहीं है। इनकी रेखाएं सरल और रंग स्वाभाविक हैं।

मूल्यांकन

"आप काव्य को मूलतः आत्माभिव्यक्ति मानते हैं, और प्रस्तुत कविता अपने सहज रूप में कवि की प्रत्यक्ष आत्मानुभूति है। तो क्या इसमें काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप मिलता है ?" मूल सिद्धांत से विरोध रखने वाले एक मित्र ने प्रश्न किया ? उनको ऐसा लगा जैसे मेरा आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त अपनी ही पकड़ में आ गया। पर बात ऐसी नहीं है। इस प्रश्न में आत्मानुभूति के केवल एक पहलू पर ही दृष्टि है। इस में संदेह नहीं कि काव्य मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही है; और जो रचनाएं निश्छल आत्माभिव्यक्ति की माध्यम हैं उनमें सहज काव्य-गुण का अस्तित्व निस्संदेह मानना पड़ेगा। कहने का अभिप्राय यह हुआ कि इस युग की इन वैयक्तिक रचनाओं में, जहां उनमें आत्मानुभूति की निश्छल अभि-व्यंजना हुई है, सहज काव्यगुण अवश्य ही वर्तमान है। निशा निमंत्रण तथा

प्रवासी के गीत आदि के अनेक गीतों की लोकप्रियता इस बात की साक्षी है कि हृदय से निकले हुए ये गीत सीधे हृदय पर जाकर असर करते हैं। इन कविताओं में एक सहज आकर्षण रहा है जो अन्यत्र सुलभ नहीं हुआ। इसी कारण बच्चन के आत्माभिव्यंजक गीत महादेवी और पंत के उत्कर्ष काल में भी मध्य-वर्ग के युवक समाज पर छा गये। परन्तु इस विषय में एक बात याद रखनी चाहिए और वह यह कि निश्छल आत्माभिव्यक्ति काव्य का सहज गुण तो है पर सरल नहीं है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति जीवन के अत्यंत शुद्ध क्षणों में ही सम्भव हो सकती है। ये क्षण आत्म-साक्षात्कार के क्षण होते हैं, जिनमें छल और दम्भ के आवरणों को हटाकर हमारी आत्मा पारदर्शी भाषा में उतर आती है। यह एक साधना है जो सभी के लिए सदा सम्भव नहीं होती। इस युग की वैयक्तिक कविता में भी निश्छल आत्माभिव्यक्ति के गीत विरल ही हैं। वह थोड़े ही कवियों में, और उनकी भी थोड़ी ही रचनाओं में, मिलती है। बच्चन के पृष्ठ के पृष्ठ उलट जाइये तब कहीं इस प्रकार की कविता के दर्शन होते हैं, नरेन्द्र की गीतमालाओं में भरती के गीतों की संख्या बहुत अधिक है। यही बात औरों के विषय में भी सत्य है। आखिर इन दो दशाब्दियों में इतने अधिक नवयुवक कवियों ने जो शत-शत गीतों और छन्दों में कल्पित प्रेयसियों के प्रति अपने कच्चे-पक्के भावों को उलटे-सीधे शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है वह सभी तो कविता नहीं हो सकती। उन सभी में आत्मानुभूति की प्रेरणा भी नहीं है, निश्छल आत्माभिव्यक्ति तो बहुत दूर की बात है। इनमें से कुछ ख्यात-नामा कवि तो लम्बी गीतमालाएं तैयार करने के मोह में पड़ गये हैं जिनमें उन्हें प्रायः प्रयत्नपूर्वक एक विशेष मनःस्थिति जगाकर गीत रचना करनी पड़ी है, और अनेक उदीयमान कवि कल्पित प्रेयसियों के प्रति प्रेम की छद्म कल्पना के सहारे छन्द रचते रहे हैं। वास्तव में सच्ची आत्माभिव्यक्ति की कविता न तो योजना बनाकर अनुभूति का आवाहन कर के ही लिखी जा सकती है, और न छद्म अनुभूति के बल पर ही। इस वर्ग के कवियों को जहां इन दोनों में से किसी का सहारा लेना पड़ा है वहीं इन की रचना या तो हलकी और निर्जीव हो गई है, या अपनी निस्सारता में वाचाल।

यह तो हुआ आत्माभिव्यक्ति सिद्धान्त का एक पक्ष—अर्थात् अभिव्यक्ति पक्ष। इसका दूसरा पक्ष है आत्म पक्ष जिसकी कि अभिव्यक्ति होती है। निश्छल अभिव्यक्ति अपने आप में सफलता है। पर जिस आत्म की वह अभिव्यक्ति होती है वह भी अत्यंत महत्वपूर्ण है, और काव्य के मूल्यांकन में वह भी

एक बड़ा माप-दंड है। यह ठीक है कि निश्छल अभिव्यक्ति के बिना काव्य का अस्तित्व नहीं है, परन्तु उसकी श्रेष्ठता आदि को आंकने के लिए तो उस आत्म की गुरुता-लघुता की परीक्षा करनी पड़ेगी जिसको कि वह अभिव्यक्त करता है। निश्छल अभिव्यक्ति काव्य की पहली शर्त है, पर इसके आगे उसकी सापेक्षिक श्रेष्ठता को आंकने की कसौटी तो आत्म ही हो सकता है। आत्म अर्थात् काव्य-व्यक्तित्व के संस्कृत आचार्यों ने तीन तत्व माने हैं : शक्ति, निपुणता और अभ्यास। शक्ति का अर्थ प्राचीन आचार्यों ने जन्मान्तरगत ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा माना है, आज उसे प्रबल व्यक्ति-चेतना मान लीजिये। निपुणता या व्युत्पत्ति जीवनानुभव, अध्ययन-मनन और विचार द्वारा अर्जित संस्कार-समृद्धि का नाम है, और अभ्यास सचेष्ट कला-प्रक्रिया को कहते हैं। श्रेष्ठ कवियों में इन तीनों का प्राचुर्य होता है। इनके अनुपात से ही उनके काव्य-व्यक्तित्व का महत्व आंका जाता है, और उसी के आधार पर उनके काव्य का मूल्य। इस कसौटी पर कसने से इस वर्ग की कविता का सापेक्षिक मूल्यांकन हो जाता है, और इधर आत्माभिव्यक्ति सिद्धांत के विरुद्ध उठाई गई शंका का समाधान भी। यह कविता अधिकतर अपरिपक्व वय के कवियों द्वारा लिखी गई है जिनका जीवनानुभव आर्थिक और शृंगारिक अंतर्द्वंद्वों तक सीमित रहा है, जिनका अध्ययन, मनन और विचार का क्षेत्र भी सीमित रहा है, और जिनकी प्रेरणा का उद्गम-स्रोत कोई गहरा आस्तिक विश्वास न होकर प्रायः संदेह और अनास्था ही है। अभ्यास भी इन कवियों का अपूर्ण-सा ही रहा है। छायावाद के कवियों ने जिन सूक्ष्म कला-प्रक्रियाओं का अनवरत अभ्यास कर हिन्दी काव्य को एक अभूतपूर्व कला-शिल्पका वरदान दिया था, ये कवि उसकी कोई श्री-वृद्धि नहीं कर सके। इस प्रकार इन कवियों का काव्य-व्यक्तित्व साधारण धरातल से कुछ ही ऊपर माना जा सकता है—केवल बच्चन ही अपनी तत्वगत (elemental) व्यक्ति-चेतना के बल पर अपनी कुछ कविताओं में काफ़ी ऊंचे उठ पाये हैं। सामान्यतः इस श्रेणी के कवियों ने सहज और प्रिय कविता ही अधिक लिखी है, महान कविता बहुत कम।

× × ×

इस प्रसंग में, वैयक्तिक कविता की मूल प्रवृत्तियों को उदाहृत करने के लिये इस के अग्रणी कवि बच्चन की कविता का एक विश्लेषण प्रस्तुत करना समीचीन होगा। उसके द्वारा इस काव्य-प्रवृत्ति की रूपरेखा और भी निखर आएगी।—अस्तु!

: ४ अ :

बच्चन की कविता

बच्चन की कविता

छायावाद की कविता मूलतः व्यक्तिवादी है। आरम्भ से ही उसमें व्यक्तिवाद का स्वर अत्यन्त मुखर था। इसका मुख्य कारण यह था कि छायावाद को प्रभावित करने वाली चिंता-धारा तथा भाव-धारा—दूसरे शब्दों में दार्शनिक विधान और काव्य-परम्परा दोनों ही अपने मूल-रूप में एकान्त व्यक्विादी थीं। यह दार्शनिक विधान प्राचीन भारतीय अद्वैतवाद और उन्नीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य आदर्शवाद के समान तत्वों से निर्मित था जो विवेकानन्द जैसे धर्म-नायकों की वाणी में मुखरित होकर तत्कालीन चिन्तकों और विचारकों को प्रभावित कर रहा था। वास्तव में इन दोनों में कोई मूलगत भेद नहीं था। आदर्शवाद अद्वैतवाद का ही आधुनिक रूपान्तर था जो भौतिक जीवन को अधिक ग्राह्य रूप में प्रस्तुत करने के कारण नवीन जीवन के अधिक अनुकूल पड़ता था। राजनीतिक-सामाजिक धरातल पर यह दर्शन सामन्तवाद की चिन्ताधारा के विद्रोह में पूंजीवाद की व्यक्तिगत साहसिकता के आधार पर खड़ा हुआ था। उधर काव्यक्षेत्र में छायावाद पर रोमाण्टिक भावधारा का प्रभाव था जो जीवन के प्रति एक अतिशय व्यक्तिवादी भावात्मक दृष्टिकोण था। इस प्रकार भावना और चिंता दोनों के क्षेत्र में छायावाद को व्यक्तिवाद से प्रेरणा मिल रही थी। परन्तु उसका व्यक्ति तत्व प्रच्छन्न अर्थात् अप्रत्यक्ष एवं सूक्ष्म था। तत्कालीन प्रतिकूल सामाजिक तथा बौद्धिक परिस्थितियों में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की उस नव-उद्‌बुद्ध चेतना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के लिये यथेष्ट अवकाश नहीं था, निदान वह प्रत्यक्ष एवं निरावरण, स्थूल अथवा मूर्त नहीं हो सका। राजनीतिक जीवन में उसने अहिंसा का रूप धारण किया, सामाजिक जीवन में आत्म-संस्कार का और वैयक्तिक जीवन में वह अतीन्द्रिय प्रेम तथा जीवन और जगत के प्रति एक मोहक रोमानी विद्रोह के रूप में अभिव्यक्त हुआ।

धीरे-धीरे यह धूमिल संसार और जीवन अधिक मूर्त और अनुभूत होने लगा और छायावाद का अप्रत्यक्ष एवं सूक्ष्म व्यक्तिवाद प्रत्यक्ष और स्थूल की महत्व-स्वीकृति का आग्रह करने लगा। धर्म, राजा, समाज, देश की भावना के

नीचे दबा हुआ व्यक्ति का अहं जागरूक होकर अपने सुख-दुःख को, अपनी कुंठा और प्रसादन को सबसे अधिक महत्व देने लगा और साहित्य में उनकी अभिव्यक्ति की मांग करने लगा। इस मांग को अवसे पूर्व साहस-पूर्वक बच्चन ने पूरा किया, और हमारी पीढ़ी का तरुण समाज अपने हर्ष-विषाद को—और उसके जीवन में विषाद ही अधिक था, इस समवयस्क कवि के गीतों में मुखरित पाकर आत्माभिव्यक्ति के सुख से झूम उठा।

बच्चन की कविता स्वीकृत रूप से व्यक्तिवादी कविता है।

१—मैं तो बस इतना कहता हूँ—
वह एक दीप लौटा लाओ,
जिसकी लघु बाड़व-ज्वाला से
घबरा उठता तम का सागर !
(सतरंगिनी)

२—एक चिड़िया चोंच में तिनका लिए जो जा रही है
वह सहज में ही पवन उनचास को नीचा दिखाती।
(सतरंगिनी)

उन्होंने निर्भीक होकर बिना किसी प्रकार के दुराव-छिपाव के अपनी कविता को प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति का साधन बनाया है।

बच्चन के व्यक्तिवाद को समझने के लिए पहले उनके व्यक्तित्व और उनकी परिस्थिति का विश्लेषण अनिवार्य्य होगा। बच्चन के व्यक्तित्व का निर्माण इस शताब्दी के चौथे दशक में हुआ है। सन् ३३-३४ से ३८-३९ तक का समय उनके लिए आत्म-साक्षात्कार का समय था। भारतीय राजनीतिक-सामाजिक जीवन में यह अवसाद का समय था जब राजनीति में दूसरा सत्याग्रह विफल हो चुका था और सामाजिक जीवन आर्थिक पराभव से आक्रान्त था। इस अवसाद का वैसे तो समस्त जनता पर ही प्रभाव था परन्तु मूलतः इसका भागी था मध्यवर्ग जो राजनीति, समाज और साहित्य सभी क्षेत्रों में देश की चेतना का प्रतिनिधि था। बच्चन हिन्दी साहित्य में इसी मध्यवर्ग के युवक-समुदाय के प्रवक्ता रहे हैं। यह युवक समुदाय जिन आशाओं और उमंगों को लेकर जीवन में प्रविष्ट हुआ था उन्हें राजनीतिक पराजय और दिन-दिन बढ़ती हुई बेकारी ने निर्दयता के साथ कुचल दिया था। जिस सत्याग्रह आन्दोलन में बच्चन ने विश्वविद्यालय छोड़ा था वह विफल हो चुका था। प्रतिभाशाली विद्यार्थी-जीवन को असमय में ही समाप्त कर उनको एक स्कूल में अपने व्यक्तित्व और

प्रतिभा के सर्वथा विपरीत एक बहुत साधारण सी नौकरी करनी पड़ी। इस भूमिका में बच्चन के व्यक्तित्व का जो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है वह कुछ इस प्रकार है : राजनीतिक और आर्थिक पराभव से अवसन्न वातावरण में संघर्षरत मध्यवर्ग का एक प्राणवान युवक जो समर्थ इच्छाशक्ति और उच्चाकांक्षाओं के साथ जीवन में प्रवेश करता है परन्तु अवश्य प्रतिकूल परिस्थिति के आघात से सहसा गतिरुद्ध होकर एकांत विवशता का अनुभव करता है। अतएव इस व्यक्तित्व के मूल निर्णायक तत्व हैं : संघर्षजन्य पराभव और अवसाद जो उसे वातावरण से प्राप्त होता है, मध्यवर्ग की व्यक्तिवादी चेतना अर्थात् समाज के व्यापक जीवन से विमुख होकर वैयक्तिक जीवन के सुख-दुःख पर अवधान, समर्थ चेतना और इच्छाशक्ति (ये दोनों गुण संस्कारगत हैं), और अवश्य प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष।

बच्चन के संघर्ष की प्रथम अभिव्यक्ति हमें मधुशाला, मधुबाला और मधुकलश में मिलती है। इस अभिव्यक्ति को हिन्दी में हालावाद का नाम दिया गया। यह नाम अधिक विचारपूर्ण नहीं था परन्तु विस्मरण की मनोवृत्ति को व्यक्त करने के लिये यह शब्द बुरा भी नहीं था। जैसा कि मैंने ऊपर निर्देश किया है, राजनीतिक और आर्थिक पराभव के कारण उस समय के वातावरण में गहन अवसाद छाया हुआ था जिसके परिणामस्वरूप तत्कालीन समाज मुख्यतः मध्यवर्ग की चेतना एक विशेष मानसिक आध्यात्मिक क्लांति से अभिभूत हो गई थी। इस क्लांति को दूर करने के लिये बच्चन ने हाला का आह्वान किया—यह हाला थी आध्यात्मिक विद्रोह से प्रेरित भोगवाद की। उमर खैयाम से प्रेरणा लेकर बच्चन ने अपनी मधुशाला का निर्माण किया, और उस युग के अवसादग्रस्त युवक-समाज को वहां बैठकर अपना ग़म ग़लत करने का निमन्त्रण दिया। और, इसमें सन्देह नहीं कि वह युवक-समाज जो विश्वास का आधार खो बैठा था, बड़े उत्साह से उस ओर बढ़ा। इस हालावाद की व्याख्या बच्चन के अनुसार इस प्रकार की जा सकती है : यह समस्त विश्व किसी क्रूर नियति के इंगित से परिचालित चक्रवत् घूम रहा है, वह भाग्य-चक्र के अधीन सर्वथा विवश और अपनी विवशता में एकांत करुण है। उसकी सबसे बड़ी विवशता है अस्थायित्व। उसके सभी नाम-रूपात्मक प्रोद्भास क्षणभंगुर हैं। इस अस्थिरता पर विजय प्राप्त करने के लिये मानव के सभी प्रयत्न सर्वथा निष्फल सिद्ध हुए हैं। अतएव पाप और पुण्य पर आश्रित जीवन के सभी मूल्य जीवन की क्षणभंगुरता में एकांत निस्सार हैं। उनके बन्धन के कारण मनुष्य और भी क्लीव बन

गया है। ईश्वर और धर्म की कल्पना ने मनुष्य के मन को रूढ़िजाल में जकड़ कर निस्तेज बना दिया है जिसके परिणामस्वरूप वह प्रत्यक्ष का त्याग कर परोक्ष के मोह में भटक कर जीवन की क्षणभंगुरता को और भी अधिक करुण बना देता है। जीवन की इस विफलता का तो बस एक ही उत्तर है—उपभोग। और उसके लिये इस कल्पित आध्यात्मिक-नैतिक रूढ़िपाश को छिन्न-भिन्न करना अनिवार्य है। नियति से जितने भी क्षण हमें मिले हैं उनका ही केवल तात्कालिक मूल्य है, अतएव उनकी सार्थकता भोग में ही है, पाप-पुण्य, भूत-भविष्यत् की चिन्ता में उन्हें भी गवां देना मूर्खता है। इस प्रकार बच्चन की हाला ऐसे भोगवाद का प्रतीक है, जिसका मूल आधार है आध्यात्मिक विद्रोह। इसमें अविश्वास की सक्रिय शक्ति है जड़वाद की निष्क्रियता नहीं। भारतीय चार्वाक दर्शन की अपेक्षा यह ख़ैयाम के रंगीन 'क्षणवाद' के अधिक निकट है। परिस्थितियों से क्लांत मध्यवर्ग के युवक-कवि बच्चन ने अपने समकालीन समाज को यही तीखी ख़ुराक देकर उसमें उत्तेजना पैदा करने का प्रयत्न किया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह जीवन-दर्शन बहुत कुछ यौवन-सुलभ कल्पना के आश्रित था। बच्चन के लिये किसी स्वानुभूत जीवन-दर्शन के प्रतिपादन करने का अभी समय भी नहीं आया था। इसमें अनुभूति और कल्पना का रंगीन मिश्रण था। परन्तु कुछ समय में ही बच्चन के जीवन में एक ऐसी घटना घटित हुई जिसने उन्हें जीवन के आमने-सामने लाकर खड़ा कर दिया। वे अपनी विषम परिस्थिति से संघर्ष कर ही रहे थे कि उनकी पत्नी श्रीमती श्यामा क्षय-रोग से ग्रस्त हो गईं। मध्यवर्ग के साधारण आर्थिक परिस्थिति के व्यक्ति के लिये पत्नी का क्षय-ग्रस्त हो जाना कितनी भयंकर आपत्ति है इसकी कल्पना कोई भी भुक्त-भोगी कर सकता है। मैं समझता हूं कि मनुष्य इतना अधिक असहाय अपने को कदाचित् ही कभी पाता हो। बच्चन को अपने यौवन के मध्य में इस घोर मानसिक यातना का अनुभव करना पड़ा जो पत्नी की मृत्यु से अपनी चरमावस्था को पहुंच गया। इसका संकेत एक स्थान पर उन्होंने स्वयं किया है। "उस मृत्यु-शैया के निकट कितनी बेचैनी थी, यौवन की कितनी अभिलाषाएं उसके पायों और पाटियों पर अपना सिर धुन चुकी थीं, उस पर चमकती हुई दो आंखों में जीवन की कितनी प्यास थी, मौत के अनजाने भेदभरे देश में जाने से कितना भय था और अंकिचन मानव की असमर्थता और विवशता पर कितना विक्षोभ था।"

मृत्यु के इस साहचर्य और साक्षात्कार ने कवि की चेतना को बाहर से खींच कर एकांत अन्तर्मुखी बना दिया—वह समाज, राजनीति आदि से पराङ्मुख होकर जीवन के मौलिक सत्यों के सामने खड़ा हो गया—जीवन का अभिप्राय, जीवन का सारतत्व, जीवन और जगत की प्रेरक अथवा संचालक शक्ति और मानव के प्रति उसका और मानव का उसके प्रति दृष्टिकोण, मृत्यु, जीवन, जीवन के मूल्य, पाप और पुण्य आदि के प्रश्न, जिनके विषय में अब तक उसने रंगीन कल्पनाएं की थीं, प्रत्यक्ष रूप से उसकी अनुभूति पर होकर उतर गये। इस प्रकार की परिस्थिति का मानव-व्यक्तित्व पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। साधारण जन तो प्रायः असहाय होकर भगवान की शरण में जाकर अपने कष्ट को भूलने का प्रयत्न करता है परन्तु प्राणवान व्यक्ति की प्रतिक्रिया भिन्न होती है। यदि वह विश्वासी है तो अपनी जीवनगत विषमताओं को उस मृत्यु-भेदी परम शक्ति की समरसता में निमग्न कर शांति लाभ करता है, और यदि उसके संस्कार में विश्वास की प्रवृत्ति नहीं है, तो ऐसी दशा में उसकी चेतना पूरे बल से आस्तिकता के प्रति विद्रोह कर उठती है। बच्चन के संस्कार और परिस्थिति दोनों में अविश्वास का प्राबल्य था अतएव इस आधिदैविक संकट ने एक ओर जहां उनके विषाद को और भी गहरा किया वहां दूसरी ओर उनके आध्यात्मिक विद्रोह को और भी प्रबल बना दिया। निशा-निमन्त्रण और एकांत-संगीत का रचनाकाल बच्चन के लिये आत्म-साक्षात्कार का समय है। इन कविताओं में भाग्य-चक्र के नीचे कुचले हुए मानव के चीत्कार और ललकार दोनों के मिले-जुले स्वर स्पष्ट सुनाई देते हैं।

परन्तु जीवन सहज ही पराजय स्वीकार नहीं करता। विषाद की काली निशा धीरे-धीरे बीतने लगी। यूनिवर्सिटी में अच्छी नौकरी मिल गई। बच्चन ने एक जीवंत वास्तवदर्शी की भांति परिवर्तन को स्वीकार किया: "जो बीत गई सो बात गई" और यह ठीक भी था। "निर्माण के प्रतिनिधि" मानव ने यह अनुभव किया कि

"जो बसे हैं वे उजड़ते
हैं प्रकृति के जड़ नियम से,
पर किसी उजड़े हुए को
फिर बसाना कब मना है?"

बच्चन ने अपना उजड़ा हुआ घर फिर बसाया "कितना अकेला आज मैं" की पुकार

"और आज तेरी गोद में,
ध्वनित अमित का हास हुआ।

और आज मेरे मानस में

राग-रंग रस-रास हुआ।" में परिणत हो गई। देवी श्यामा के स्वर्गवास के उपरांत जो दुनिया उनसे दूर हो गई थी, वह श्रीमती तेजी के संसर्ग से फिर निकट आ गई। "मिलन यामिनी" की मादकता और उसके फलस्वरूप जीवन में "सतरंगिनी" ने प्रवेश किया। जीवन में स्वास्थ्य और सुख का आविर्भाव हुआ। बच्चन का गृहस्थ पुत्र-कलत्र, धन-मान से सम्पन्न हो गया। हिन्दी के कुछ लेखकों को यह परिवर्तन अच्छा नहीं लगा और कुछ आलोचकों में इसकी चर्चा हुई कि "है चिता की राख कर में, मांगती सिन्दूर दुनिया" की ग्लानि "घन-मन-तंत्री को तेज-तड़ित छू लेती,

जीवन के नभ में नवरस बरसा देती।"

के उल्लास में किस प्रकार परिणत हो गई। परन्तु वास्तव में इन आलोचनाओं में जीवन को बहुत सतह से देखा गया है और हलकी भावुकता के मानदंड से मापा गया है। इस प्रकार के आलोचक स्थूल आदर्शवाद के मोह में जीवन की अपराजेय शक्ति के महत्व को भूल जाते हैं: इस तरह का आदर्शवाद जीवन के एकांग को देख पाता है सर्वांग को नहीं:

× × ×

मातम का तम छाया माना,
अंतिम सत्य इसे यदि जाना,
तो तूने जीवन की अब तक आधी सुनी कहानी।" (सतरंगिनी)

इन्हीं दिनों एक और व्यक्तिगत घटना हुई—माता जी की मृत्यु: इस बार बच्चन ने मृत्यु का एक सर्वथा भिन्न रूप में साक्षात्कार किया। "........इसके विपरीत माताजी की शैया के निकट कितनी शांति थी, जीवन की अभिलाषाएं या तो पूरी हो चुकी थीं या मिट चुकी थीं। आंखों में जीवन के प्रति उपेक्षा और उदासीनता का भाव था।...... उनका यह विश्वास कि आत्मा अमर है मृत्यु से आत्मा का अंत नहीं पुनर्जीवन होता है....जो कुछ हो रहा है वही ठीक और कल्याणकर है उनके चेहरे से टपका करता था। श्यामा की मृत्यु के पश्चात मुझे ऐसा लगता था कि जैसे उनकी आत्मा उनके शव के चारों ओर चक्कर काट रही है और सतत प्रयत्नशील है कि वह उनके चोले में फिर समा जाये। माता जी की मृत्यु के पश्चात् मुझे ऐसा लगता था कि जैसे उनकी आत्मा शरीर छोड़ कर अलग हो गई है और दूर बैठकर सांसों के साथ

उसका खेल देख रही है 'कब देह धरे' का दंड समाप्त हो और कब उसे मुक्ति मिले। उनकी मृत्यु मेरे लिए जीवन की नवीन व्याख्या थी। मेरी आंखों के सामने मृत्यु का एक नया अर्थ खुल रहा था।" यह तो ठीक ही है कि मृत्यु के प्रति श्रीमती श्यामा और माता जी के दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न रहे होंगे, परन्तु बच्चन के दृष्टिकोण में भी तो इस समय तक कितना अंतर आ गया था—और वास्तव में उसीका महत्व है। माताजी की मृत्यु के समय तक बच्चन की अपनी जीवन-दृष्टि भी बदल गई थी। अतएव यह अंतर विषय के अतिरिक्त विषयी की दृष्टि का भी था। श्रीमती श्यामा की मृत्यु के समय बच्चन के अपने जीवन की अभिलाषाएं चारों ओर से कुंठित होकर मरणोन्मुखी पत्नी के शरीर से लिपट कर अकिंचन मानव की असमर्थता और विवशता पर विक्षोभ से छटपटा रही थीं। माताजी की मृत्यु के समय तक बच्चन की परिस्थिति बदल चुकी थी। पहली परिस्थिति में जहां उनकी विषादग्रस्त चेतना के लिये श्रीमती श्यामा की रोग-शैया से हट कर अन्यत्र आश्रय नहीं था, वह बाहर के असफल संघर्ष से आहत होकर घर में लौटती, और घर में उसका केन्द्र बिन्दु था पत्नी का निरंतर क्षीण होता हुआ अस्तित्व; और फिर उससे हट कर बाहर वही विफल संघर्ष था। ऐसी स्थिति में मृत्यु का विक्षुब्ध रूप ही सामने आ सकता था। इसके विपरीत माताजी की रुग्णावस्था में आहत चेतना की विशदता और शांति के लिये पर्याप्त अवकाश था: श्रीमती तेजी, अमित, यूनिवर्सिटी का रुचिकर कार्य्य, सफल साहित्यिक जीवन इत्यादि। स्वभावतः इस मृत्यु में बच्चन को वह बेबसी और छटपटाहट दृष्टिगत नहीं हुई—उसका शांतिमय रूप ही सामने आया क्योंकि अब तक कवि का जीवन-दर्शन अभावात्मक से बहुत कुछ भावात्मक हो चुका था।

यह तो हुई बच्चन के व्यक्तिगत जीवन के आरोह-अवरोह की एक स्थूल रूप-रेखा। इसका प्रत्येक संस्थान बच्चन के काव्य-जीवन का एक संस्थान है—बच्चन के कवि और काव्य को पृथक् रूप से नहीं देखा जा सकता। परन्तु इस बीच में विश्व-जीवन में भी कई अत्यंत महत्वपूर्ण घटनाएं हुईं। उदाहरण के लिये दूसरा विश्व-युद्ध, इधर भारत में बंगाल का अकाल, भारत का विभाजन, और उसके बाद का भयंकर गृह-युद्ध, स्वराज्य की स्थापना, बापू की हत्या। और प्रश्न उठता है कि क्या इनका बच्चन के कवि-जीवन के आरोह-अवरोह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा? साधारणतः तो इसका उत्तर हां में देना चाहियेः विश्व युद्ध के दिनों में बच्चन ने 'आकुल अंतर' और 'विकल विश्व' नाम से दो गीत

मालाएं आरम्भ की थीं इनमें से 'आकुल अंतर' प्रकाशित हो चुका है 'विकल विश्व' का पृथक् प्रकाशन नहीं हुआ। बंगाल के अकाल पर भी बच्चन ने एक स्वतंत्र काव्य लिखा है 'बंगाल का काल', और इधर बापू की हत्या पर उन्होंने पूरे २०४ गीत लिखे हैं, और उनका कहना है कि मेरे लिखने की प्रगति इतनी तेज कभी नहीं रही। परन्तु यह असंदिग्ध है कि ये रचनाएं उत्कृष्ट नहीं हैं—'बंगाल का काल' शैली-शिल्प के नवीन प्रयोगों के होते हुए भी रिक्त है, 'विकल विश्व' माला के अन्तर्गत लिखे हुए गीत भी निर्जीव हैं। स्वयं गांधीजी की हत्या पर लिखे हुए अधिकांश गीत खोखले हैं। और इसका कारण स्पष्ट है। बच्चन की चेतना एकांत व्यक्तिवादी है। उपर्युक्त कृतियों में उनके चेतन मन ने सामाजिक दायित्व के प्रति सचेष्ट होकर अपने अहं का सामाजीकरण करने का प्रयत्न किया है, परन्तु सामाजीकरण के अनभ्यस्त उनके अवचेतन ने साथ नहीं दिया, वह इन सामाजिक प्रेरणाओं में तन्मय नहीं हो सका :

कल सुधारूंगा हुई
संसार से जो भूल,
कल उठाऊंगा भुजा
अन्याय के प्रतिकूल,
आज तो कह दो कि मेरा
बन्द शयनागार !

इस प्रकार बच्चन की कविता एकांत आत्मगत कविता है और उसका मुख्य विषय है मध्यवर्गीय जीवन के घात-प्रतिघात, जिन के अंतर्गत प्रेम भी आ जाता है। परन्तु बच्चन प्रेम-कवि नहीं हैं। प्रेम जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है, सम्पूर्ण जीवन नहीं। भौतिक घात-प्रतिघात से उत्तेजित जीवन की मूल-धारा बच्चन का प्रेरणा-स्रोत है, नारी के प्रति आत्म-दान नहीं। इस रूप में अध्ययन न करने से बच्चन की कविता के साथ अन्याय किया जा सकता है।

प्रत्यक्षतः व्यक्तिगत जीवन की कविता होने के कारण बच्चन की कविता का मूल आधार है अनुभूति और यही उसकी सबसे बड़ी और बहुत कुछ अंशों में एकमात्र शक्ति है। और, इस दृष्टि से बच्चन की काव्य-चेतना पंत जी की काव्य-चेतना के सर्वथा विपरीत है। पंत जी ने जहां जीवन की कल्पना और चिंतन किया है बच्चन ने वहां उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति की है। इसके अतिरिक्त पंत जी ने जहां अपनी अनुभूतियों का परिष्कार एवं उन्नयन करने का प्रयत्न किया है, वहां बच्चन ने उनको उनके प्रकृत रूप में प्रत्यक्ष

रीति से व्यक्त किया है । इसी लिये उनकी अनुभूति अधिक संस्कृत न होकर काफ़ी हद तक आदिम (Primtive) है, परन्तु इसी लिये वह मौलिक और तत्वगत (Elemental) भी है । इस प्रकार की अनुभूति में सूक्ष्म जटिलताएं नहीं होतीं—और इसी कारण उसमें ग्रंथियां भी नहीं हैं । जीवन की वीचियों से खेलने वाली, सौन्दर्य के बारीक तत्वों को पकड़ने वाली पंत की जैसी अतिशय सूक्ष्म संवेदनशीलता बच्चन में नहीं है परन्तु जीवन के मौलिक मनोवेगों का संवेदन उनका अत्यंत प्रत्यक्ष और प्रबल होता है । उनकी व्यक्ति-चेतना का यही सहज धरातल है और इसी के अनुरूप उनके भावन एवं साधारणीकरण की विधि भी सहज और प्राकृत होती है । बच्चन चिंतन की सूक्ष्मताओं, कल्पना की ललित क्रीड़ाओं, तथा आधुनिक बौद्धिक धारणाओं द्वारा अपनी वैयक्तिक अनुभूति का भावन नहीं करते । वे जीवन के सर्वमान्य मौलिक तथा मूर्त सत्यों के द्वारा और जीवनगत सरल कल्पना की सहायता से ही व्यक्ति की अनुभूति का साधारणीकरण करते हैं । इसके लिये वे या तो सरल प्राकृतिक सत्यों को ग्रहण करते हैं या जीवन की विशद घटनाओं को। उदाहरण के लिये अपनी पहली पत्नी के देहान्त पर कई वर्षों तक मानसिक यातना सहने के उपरान्त कवि धीरे-धीरे प्रकृतिस्थ होता है और अतीत के साथ समझौता करना चाहता है । इसके लिये, जैसा कि अत्यन्त सहज था, वह दार्शनिक युक्तियां नहीं देता—अपनी पीड़ा का वितरण या उन्नयन नहीं करता, वरन कुछ विराट् प्राकृतिक तथ्यों के साथ उस का सम्बन्ध स्थापित करता हुआ उसको एक विश्व-व्यापी रूप दे देता है ।

जो बीत गई सो बात गई !
जीवन में एक सितारा था,
माना, वह बेहद प्यारा था
वह डूब गया तो डूब गया;
अंबर के आनन को देखो,
कितने इसके तारे टूटे,
कितने इसके प्यारे छूटे,
जो छूट गए फिर कहां मिले,
पर बोलो टूटे तारों पर
कब अम्बर शोक मनाता है ।

यहां अम्बर की विराटता के साथ अपनी जीवन-घटना का तादात्म्य

स्थापित करते हुए कवि ने अपनी अनुभूति को विस्तार दे दिया है। इसी प्रकार—

तुम तूफ़ान समझ पाओगे ?
गंध भरा यह मंद पवन था
लहराता इससे मधुवन था
सहसा इसका टूट गया जो स्वप्न महान, समझ पाओगे?

यहां भी उसने अपने स्वप्न को तूफ़ान के महान स्वप्न के साथ तदाकार करते हुए व्यक्तिगत अनुभूति को तत्वगत (elemental) बना दिया है।

कहने का तात्पर्य यह है : जीवन की मौलिक भावनाओं का व्यक्तिगत रूप में प्रबल संवेदन करते हुए उन्हीं के अनुरूप प्रकृति अथवा जीवन के व्यापक सरल सत्यों द्वारा उनका साधारणीकरण करना बच्चन की काव्य-चेतना की सबसे प्रमुख विशेषता है, और यही उनके व्यापक प्रभाव का मूल कारण है। अनुभूति की भांति बच्चन के विचार भी सरल होते हैं। जीवन के प्रति उनकी बौद्धिक प्रतिक्रिया सदैव सीधी और प्रत्यक्ष रही है। पहले उन्होंने जीवन के अभावों को लेकर सरल विधि से भाग्यवाद को अपनाया : इस जीवन में सभी कुछ नाशवान है, अतएव जीवन के मूल्यों को ही क्यों महत्व देकर अपने को वर्तमान के क्षणिक सुख से वंचित रखा जाये। इसके लिये सबसे बड़ी बाधा नीति और आचार की संहिता है, अतएव मनुष्य को बलपूर्वक अपने को उससे मुक्त कर लेना चाहिये। मृत्यु पर विजय पाना सर्वथा असम्भव है, अतएव उसको भूलने का प्रयत्न करना चाहिये :—

झुका कर इसके आगे शीश
नहीं मानव ने मानी हार।
मिटा सकने में यदि असमर्थ
भुला सकते हम यह संसार।

यह है बच्चन की विचारधारा का पहला संस्थान। किंतु मनुष्य की शक्ति अत्यन्त सीमित है। काल के सम्मुख उसका यह विस्मरण-प्रयत्न भी निष्फल हो जाता है—मनुष्य वास्तव में सर्वथा दीन और असहाय है "मिट्टी दीन कितनी हाय"। नियति के विरुद्ध विद्रोह व्यर्थ है उसके प्रति आत्म-समर्पण करने के अतिरिक्त कोई और रास्ता नहीं है। यह है दूसरा संस्थान। किंतु नहीं, जीवन का प्रेम मृत्यु के भय से अधिक समर्थ है। जीवन में दुःख आता है—ठीक है, परन्तु बीती को भूलना ही होगा। नाश की अपेक्षा निर्माण की प्रेरणा अधिक

बलवती एवं स्वस्थ है ।....... यह है बच्चन की विचारधारा जो जीवन के उतार-चढ़ाव पर गिरती-उठती हुई सरल पथ से आगे बढ़ती है ।

बच्चन पर अस्वस्थ जीवन-दर्शन के प्रतिपादन का आरोप लगाया गया है। कहा गया है कि उनका जीवन-दर्शन पराजय और मृत्यु पर आधृत है। उसमें मानव की विवशता और अन्धे भाग्यवाद का संदेश है। जीवन का प्रकाश न होकर उसमें मरण का अंधकार है । उधर नैतिक और आध्यात्मिक विश्वासों का तिरस्कार करने के कारण उस पर अनाचार का आरोप लगाया जाता है। दोनों ही आरोप मिथ्या नहीं हैं । जैसा कि मैंने अभी कहा, बच्चन ने जीवन के विचार-चिंतन एवं कल्पना की अपेक्षा प्रत्यक्ष अनुभूति ही अधिक की है। अतएव उन्होंने अपने परिस्थिति-जन्य अनुभवों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। किसी पूर्व-निश्चित जीवन-दर्शन के प्रकाश में उनका उन्नयन नहीं किया। सामाजिक तथा व्यक्तिगत पराजय और अवसाद के वातावरण में जीवन के विफल संघर्ष का अनुभूत दर्शन अवसाद और निराशा का दर्शन ही हो सकता था, या यों कहिये कि वह ही अधिक सहज था। परिस्थिति के साथ जीवन-अनुभव में परिवर्तन होने से धीरे-धीरे यह अवसाद घटता गया—नाश के स्थान पर निर्माण का महत्व अनुभव-गत हुआ और अभावात्मक दर्शन क्रमशः भावात्मक होने लगा :

आत्मा की अजर अमरता के हम विश्वासी,
काया को हमने जीर्ण वसन बस माना है,
इस महामोह की वेला में भी क्या हमको
वाजिब अपनी गीता का ज्ञान भुलाना है ।

अतएव बच्चन के जीवन-दर्शन को बौद्धिक अथवा नैतिक मूल्यों से परखना ग़लत होगा। उसकी शक्ति उसके नैतिक अथवा बौद्धिक प्रतिपाद्य में नहीं है उसकी शक्ति उसके अनुभूत्यात्मक स्वरूप में है। इसी लिये उसका प्रभाव सीधा पड़ता है।

अनुभूति और चिन्ता के अनुरूप ही बच्चन की कल्पना भी ऋजु-सरल है उसमें छायावादी कल्पना के ऐश्वर्य्य का नितान्त अभाव है । प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी की तुलना में बच्चन की कल्पना कितनी अबोध है—राज-भवन की किसी विदग्धा प्रौढ़ा के समक्ष जैसे कोई अर्ध-शिक्षित मुग्धा। कल्पना में बुद्धि और अनुभूति का योग रहता है। उसका काम अनुभूत तथ्यों को लेकर नव-नव संयोजनाएं प्रस्तुत करना है, और संयोजन मूलतः बुद्धि की क्रिया है। अतएव

कल्पना की समृद्धि मूलतः अनुभव और बुद्धि की समृद्धि पर आश्रित है। कल्पना की समृद्धि के लिये जहां एक ओर यह आवश्यक है कि अनुभव अनेकरूप, विस्तृत एवं सूक्ष्म हो वहां दूसरी ओर यह कि बुद्धि प्रखर, सूक्ष्म-ग्राही और दूर-दर्शी हो। तभी नानारूपिणी संयोजनाओं की सृष्टि सम्भव है। बच्चन का अनुभूति-क्षेत्र सीमित है। उनकी अनुभूति, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, प्रबल और सरल है और उसी के अनुरूप उनकी विचार-पद्धति भी सरल है। सुन्दर रूप-तत्वों का वह संगुम्फन जो प्रसाद, पंत या महादेवी में मिलता है बच्चन में उपलब्ध नहीं है। उनके चित्रों में अवयवों की बारीकी और रेखाओं की तरलता नहीं है। सारांश यह है कि बच्चन की काव्य-सामग्री के संयोजन में सारल्य और ऋजुता तो है परन्तु औज्ज्वल्य और सूक्ष्म अंकन, जड़ाव-कढ़ाव अथवा नक्काशी नहीं है। दो एक उदाहरण लीजिए :—

१. संध्या सिंदूर लुटाती है।
रँगती स्वर्णिम रज से सुन्दर
निज नीड़-अधीर खगों के पर
तरुओं की डाली-डाली में कंचन के पात लगाती है।
करती सरिता का जल पीला
जो था पल भर पहले नीला
नावों के पालों को सोने की चादर-सा चमकाती है।

इसी प्रकार

रश्मियों में रँग पहन ली आज
किसने लाल सारी,
फूल कलियों से प्रकृति ने
मांग है किसकी सँवारी।

इन चित्रों की तुलना सांध्यगीत अथवा स्वर्णकिरण के चित्रों से कीजिये।

दूसरी ओर, प्रयोगवादी शैली-शिल्प का बौद्धिक प्रतीक-विधान एवं अप्रस्तुत-योजना भी बच्चन के काव्य से दूर है। उनका न उसमें विश्वास है और न वहां तक उनकी गति ही है। उन्होंने छायावाद के अतिशय परिष्कार और प्रयोगवाद की जटिल बुद्धि-क्रीड़ा दोनों का समानरूप से तिरस्कार किया है। साथ ही प्रगतिवाद का वर्ग-चेतना-युक्त अप्रस्तुत-विधान भी उनमें नहीं है। उन्होंने साधारणता को आग्रह के साथ अपनाया है। असाधारण चयन या आविष्कार में उनकी कला विश्वास नहीं करती। प्रत्यक्ष अनुभूति का जिन

प्राकृतिक और भौतिक उपकरणों से सीधा सम्बन्ध है, वे उन्हें सहज रूप में स्वीकार्य हैं; तभी वे धूलि, सुरभि, मधुरस, हिमकण के उस वातावरण में भी तकिया, ककड़ी के खेत, मिट्टी के घरोंदे, श्वान, काक, सुराही, प्याला और कंकड़-पत्थर आदि का निस्संकोच प्रयोग कर सके। कहने का अभिप्राय यह है कि बच्चन के काव्य में ललित कल्पना (Fancy) तथा निपुण कल्पना (यह डा० देवराज का शब्द है, और बौद्धिक कल्पना के लिए अत्यन्त उपयुक्त है) की अपेक्षा सहज कल्पना का ही प्राधान्य मिलता है।

परन्तु अनुभूति की इस सरलता ने बच्चन की इस कला को एक अन्य मूलगत विशेषता प्रदान की है। वह है अन्विति, जो कि छायावादी कविता में प्रायः विरल है। अनुभूति-प्राण होने के कारण बच्चन के गीतों में रागात्मक एकता प्रायः सर्वत्र मिलती है। मैं यहां उनके उन्हीं सफल गीतों की चर्चा कर रहा हूँ जो अनुभूति से अनुप्राणित हैं, असफल गीतों में तो अनुभूति की प्रेरणा ही नहीं है। अनुभूति में समन्वय का गुण होता है क्योंकि वह खंड-रूप नहीं होती। बुद्धि विश्लेषण-प्रधान है अतएव जिस कविता में बुद्धि-आश्रित कल्पना का प्राधान्य रहता है उसमें अन्विति-सूत्र टूट जाता है, या फिर, उसमें रागात्मक अन्विति के स्थान पर तार्किक अन्विति मिलती है जिससे काव्य का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। बच्चन के सफल गीतों की मूल अनुभूति इतनी प्रबल और सरल है कि उसका भावन करने में कवि को बौद्धिक प्रयत्न बहुत ही कम करना पड़ा है। बौद्धिक व्यक्ति के संवेदन इतने सूक्ष्म, उलझे हुए और विकीर्ण होते हैं कि उनको समीकृत करने में बुद्धि और कल्पना को बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि बुद्धि और कल्पना के शिकंजे में कस जाने से संवेदन अपनी शक्ति खो बैठते हैं और उनकी अन्विति इतनी सूक्ष्म तथा दूरारूढ़ हो जाती है कि पाठक के लिए उसका ग्रहण सहज नहीं होता। इसके विपरीत प्रबल एवं प्रत्यक्ष अनुभूति-जन्य संवेदन एक तो अपने आप में ही प्रबल और प्रत्यक्ष होते हैं दूसरे उनमें अनुभूति की रागात्मक अखंडता सहज रूप से वर्तमान रहती है, अतएव उनका समीकरण करने के लिये बुद्धि-आश्रित कल्पना का कम से कम उपयोग करना पड़ता है। 'निशानिमंत्रण' के अनेक तथा 'एकांत-संगीत' के कुछ गीतों की रागात्मक अन्विति हिंदी गीति-काव्य के लिये आदर्श है। और, 'निशानिमंत्रण' में तो यह अन्विति पृथक्-पृथक् गीतों में ही नहीं मिलती उसकी संपूर्ण गीतमाला में ही एक प्रबल रागात्मक अन्विति वर्तमान है; और यह ठीक ही कहा गया है कि 'निशानिमन्त्रण' स्फुट गीतों का संकलन न

होकर मानव जीवन की करुणा का एक महागीत है। इन गीतों की प्रेरक अनुभूति की एकता ने मनोदशा की एकता उत्पन्न की है, और मनोदशा की एकता ने वातावरण की एकता को जन्म दिया है। इस व्यापक अन्विति का परिणाम यह हुआ है कि 'निशानिमंत्रण' पाठक के मन में एक खंड अनुभूति मात्र नहीं जगाता, वरन् एक स्थायी मनोदशा एवं एक मानसिक वातावरण उत्पन्न कर देता है, जो कला की बहुत बड़ी सफलता है।

ये ही गुण बच्चन की भाषा तथा अभिव्यंजना और छंद-विधान में मिलते हैं। छायावाद की प्रतीकात्मक, अतिशय लाक्षणिक चित्रमयी भाषा से सर्वथा भिन्न बच्चन की भाषा का मुख्य गुण प्रत्यक्षता और सरलता है। मधुबाला, मधुकलश और इधर मिलन-यामिनी तथा सतरंगिनी में भी जहां काव्य-सामग्री अपेक्षाकृत अधिक रंगीन और समृद्ध है, अभिव्यंजना प्रत्यक्ष और सरल ही है—उसका आधार मूलतः अभिधा ही है। और, वास्तव में, जैसा कि मैंने अन्यत्र एक शास्त्रीय प्रसंग में स्पष्ट किया है प्रबल अनुभूति का सहज माध्यम अभिधा ही है। उधर लक्षणा और व्यंजना में बुद्धि-तत्व मूलतः निहित रहता है अतएव इन दोनों शक्तियों का मूल सम्बन्ध रागतत्व की अपेक्षा कल्पना और बुद्धि-तत्व से ही अधिक है। अभिधा का आधार होने से बच्चन की अभिव्यक्ति अपने सफल रूप में व्यक्त, प्रसन्न और प्रबल है। और असफल रूप में मुखर और वाचाल (मुंहफट) है।

उदाहरण के लिए :—

१. यह चांद उदित होकर नभ में
कुछ ताप मिटाता जीवन का
लहरा लहरा ये शाखाएं
कुछ शोक मिटा देतीं मन का

कल मुर्झाने वाली कलियां
हँस कर कहती हैं मग्न रहो,
बुलबुल तरु की फुनगी पर से
संदेश सुनाती यौवन का।

कितनी प्रसन्न और प्रबल वाग्धारा है :—

या फिर

मेरे पूजन आराधन को
मेरे सम्पूर्ण समर्पण को

जब मेरी कमजोरी कहकर मेरा पूजित पाषाण हँसा !
तब रोक न पाया मैं आँसू ।

परन्तु अनुभूति की प्रेरणा से वंचित होकर इसका स्वरूप यह हो जाता है—

१. नत्थू खैरे ने बापू का कर अंत दिया ।

अथवा

२. वह आज हुआ है बिना गुरू का चेला ।

आप कल्पना कीजिये भारत के भाग्यविधाता के नृशंस वध का सघन-गहन वातावरण, उसमें जलती हुई उस महामानव की चिता और शोकमग्न भारत का महान प्रधान मंत्री, और फिर इस पंक्ति को पढ़िये "वह आज हुआ है बिना गुरु का चेला ।"

बच्चन ने यों तो छंद-विधान में अनेक प्रयोग किये हैं : 'मधुशाला' की रुबाई से लेकर 'मधु-बाला' और 'मधुकलश' के अनेक हिन्दी-छंद, और फिर 'निशानिमंत्रण' से लेकर 'एकांत-संगीत' और 'मिलन-यामिनी' के भिन्न-भिन्न गद्य पद्य और उधर 'बंगाल का काल' का लय-आश्रित मुक्त छंद छंद-विधान की विविधता के प्रमाण हैं । परन्तु प्रायः सर्वत्र ही उनकी स्वर-योजना और लय-विधान में एक सादगी और ऋजु-सरल वेग मिलता है । स्वर की वह सूक्ष्म-तरल योजना जो महादेवी के गीतों में घुलती रहती है, अथवा वह स्वर्ण-झंकृति जो पंत के छंदों में मिलती है अथवा वह नाद गाम्भीर्य जो निराला के छंदों को अनुप्राणित करता है, बच्चन में नहीं है । उनके लय-विधान में रोमानी सूक्ष्म प्रभावों के स्थान पर व्यवहार-जगत की शक्ति मिलती है । इसी प्रकार स्वर-योजना में भी बारीक लोच न होकर सीधापन हैं । उनके स्वर और लय का भी सम्बन्ध, जैसा कि उनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति का है, आधुनिक मध्यवर्ग के व्यवहारगत जीवन से है । और उसी के अनुरूप उसमें समृद्धि और बारीक लोच का अभाव तथा एक प्रकार की रुखाई और व्यवहार-जगत की शक्ति मिलती है ।

सारांश यह है कि बच्चन की कविता की सबसे बड़ी पूंजी हैं अनुभूति जिसका आधार है मूल मनोवेग । बच्चन की वेक वितायें, जिनमें प्रकृति (उसे नियति या समाज भी कह लीजिये) के विरुद्ध शाश्वत मानव के सफल-विफल संघर्ष को—सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक आवरण से मुक्त—उसके मूलरूप में अंकित किया गया है, निस्संदेह महान कविताएं हैं :

यह महान दृश्य है
चल रहा मनुष्य है
अश्रु, स्वेद, रक्त से लथपथ, लथपथ।

वास्तव में मूल मनोवेगों पर आधृत अनुभूति की पूंजी अपने आप में साधारण पूंजी नहीं है—वह काव्य की मूल-भूत पूंजी है। परन्तु विचार, चिंतन और कल्पना के द्वारा इसका विकास करना अत्यंत आवश्यक होता है क्योंकि साधारणतः मूलधन की मात्रा सीमित ही होती है। बच्चन ऐसा नहीं कर सके हैं—उनका बुद्धि और कल्पना-पक्ष समृद्ध नहीं है। अतएव वे मूल अनुभूतियों के ही आश्रित रहते हैं। परिणाम यह होता है कि जहां उनकी अनुभूति साथ नहीं देती वहां कविता सर्वथा गद्यमय हो जाती है। छायावाद का कवि तो अनुभूति की रिक्तता को कल्पना के फूलों या चिंतन के धूपछांही आवरण अथवा कला की रेशमी जाली से ढंक लेता था, परन्तु बच्चन इस कला से अनभिज्ञ हैं। अनुभूति के क्षीण होते ही उनकी कविता नंगी हो जाती है। और चूंकि, अनुभूति के प्रबल क्षण अत्यंत विरल होते हैं और वैसे भी बाह्य जीवन की सफलता के साथ-साथ उनकी शक्ति भी क्षीण होती चली जाती है, इस लिये बच्चन की रचनाओं में महान कविताओं की संख्या बहुत कम है, और ऐसी कविताएं अनुपात से बहुत अधिक हैं जो प्राण-रस से वंचित, मुखर और वाचाल हैं। परन्तु किसी कवि का मूल्यांकन उसकी सर्वश्रेष्ठ कविताओं के आधार पर ही किया जाना चाहिये। और इस दृष्टि से बच्चन का स्थान हमारी पीढ़ी के कवियों में बहुत ऊंचा है यद्यपि इसमें भी संदेह नहीं है कि गुण और परिमाण दोनों में बच्चन से अधिक खोखली कविताएं भी आज के किसी समर्थ कवि ने नहीं लिखीं।

: ६ :

प्रगतिवाद

प्रगतिवाद

प्रगति का साधारण अर्थ है आगे बढ़ना। जो साहित्य जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक हो वही प्रगतिशील साहित्य है। इस दृष्टि से विचार करेंगे तो तुलसीदास सबसे बड़े प्रगतिशील लेखक प्रमाणित होते हैं। भारतेन्दु बाबू और द्विवेदी-युग के लेखक, मुख्यतः मैथिलीशरण गुप्त, भी इस अर्थ में प्रगतिशील लेखक हैं। परन्तु आज का प्रगतिवादी इन में से किसी को भी प्रगतिशील नहीं मानेगा—ये सभी तो उसके मतानुसार प्रतिक्रियावादी लेखक हैं। अतः प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना अवश्य है, परन्तु एक विशेष ढङ्ग से एक विशेष दिशा में। उसकी एक विशिष्ट परिभाषा है। इस परिभाषा का आधार है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्या है, पहिले इसे समझ लें।

इसमें दो शब्द हैं : भौतिकवाद और द्वन्द्वात्मक। भौतिकवाद का सार यह है कि संसार का मूलाधार पंचभूत है—पंचभूत, अर्थात् पदार्थ : मैटर। उसके सभी दृश्य, सभी सूक्ष्म-स्थूल रूप पदार्थ से ही बने हुए हैं। शरीर की परिचालिका शक्ति मस्तिष्क है और मस्तिष्क भी शरीर की अन्य इन्द्रियों की भाँति भौतिक ही है। वाह्य-जगत की घटनाओं की हमारी इन्द्रियों पर प्रतिक्रिया होती है और इस प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप एक कम्पन होता है। शरीर का वह सूक्ष्मतम और सबसे अधिक विकसित अवयव जो इस कम्पन का अनुभव और समन्वय करता है मस्तिष्क कहलाता है। आत्मा कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है, अधिक से अधिक उसे मस्तिष्क के आगे की एक विकसित अवस्था-मात्र माना जा सकता है। अर्थात् वह भी, अगर है तो, पदार्थ की ही उद्भूति है। परन्तु यह पदार्थ क्रियाहीन या गतिहीन नहीं अपितु स्वभाव से ही गतिशील है और इसमें गति पैदा करने के लिए ब्रह्म के ईक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती; वह तो पदार्थ के अन्तर्गत वर्तमान विरोधी तत्त्वों के सतत संघर्ष का सहज परिणाम है। जिस प्रकार जगत को उत्पन्न करने के लिए किसी आधिदैविक शक्ति की आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार उसके संरक्षण और विनाश के लिए भी नहीं। क्योंकि जो पदार्थ अपनी परस्पर-विरोधी शक्तियों के संघर्ष के परिणाम-स्वरूप स्वयं गति-

शील है उसमें स्वस्थ रूप का उद्भव और अस्वस्थ रूप का लय आप-से-आप होता रहता है।

इसलिए विश्व में केवल एक ही सत्ता है—आधिभौतिक। आध्यात्मिक और आधिदैविक सत्ताएँ मन की छलना-मात्र हैं। "संसार किसी ईश्वर या मनुष्य की सृष्टि नहीं, वह गतिशील पदार्थ की एक ऐसी जीवित अग्नि-शिखा है जो अंशतः ऊर्ध्व-विकास और अंशतः अधःपतन की ओर उन्मुख है।"

बस, गति की प्रेरक इन्हीं परस्पर-विरोधी शक्तियों के, जो स्वयं वस्तु में वर्तमान रहती हैं, संघर्ष या द्वन्द्व का अध्ययन करते हुए जीवन-विकास का अध्ययन करना ही द्वन्द्वात्मक प्रणाली है। और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है जो जीवन को एक ऐसी प्रगतिशील भौतिक वास्तविकता मानता है जिसके मूल में विरोधी शक्तियों का संघर्ष चल रहा है। इन विरोधी शक्तियों में निश्चय ही एक विनाश के पथ पर होगी, दूसरी उत्थान के पथ पर। चेतन मस्तिष्क का कार्य यही है कि इस तथ्य को ढूँढ निकाले और प्रगतिशील शक्तियों को सहायता दे तथा विनाशोन्मुख शक्तियों का, जो अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए व्यर्थ ही छटपटा कर विकास या प्रगति में बाधा डालती हैं, बलपूर्वक नाश करे।

इस प्रकार, जगत का एक मात्र सत्य भौतिक जीवन ही है। उसी का स्वस्थ उपभोग हमारा ध्येय है, अन्य किसी भी काल्पनिक सुख की खोज में भटकना पलायन है। और इस भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था है समाज, जिसका आधार है अर्थ। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में प्रगतिवादी केवल अर्थ का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। काम को वह अर्थ के आश्रित मानता है और धर्म को भी भौतिक अर्थ में जीवन की विधि-मात्र मानते हुए अर्थ के ही आश्रित मानता है। मोक्ष को आध्यात्मिक अर्थ में वह एक दम अस्वीकृत कर देता है।

आज के समय में दो विरोधी शक्तियाँ हैं: पूँजीवाद और साम्यवाद। पूँजीवाद, जिसका साम्राज्यवाद भी एक अङ्ग है, विनाशोन्मुख है; और साम्यवाद विकासोन्मुख। निदान प्रगतिवादी साम्यवाद का पोषक है और पूँजीवाद का शत्रु। बल्कि यों कहिये कि प्रगतिवाद साम्यवाद की ही साहित्यिक अभिव्यक्ति है। साहित्य सामाजिक कर्म-विधान का एक सक्रिय अङ्ग है। अतएव उसे समाज-व्यवस्था के संरक्षण में वांछित सहयोग देना चाहिए। हमारे समाज की जागृत शक्तियां वे लोग हैं जो अब तक दलित और शोषित रहे हैं। प्रगतिवादी

साहित्य उनकी सहायता करता है, उनके पक्ष में आन्दोलन करता है, उनकी शक्ति को संगठित करता है, उनकी पीड़ा को मुखर करता है और उन पर होने वाले अत्याचार का तीव्र विरोध करता है। इस प्रकार उसके अन्तर्गत मानववाद, क्रांति और विशेष परिस्थितियों में—जैसे पराधीनता में अथवा बाहर से हमला होने पर—देश-भक्ति भी आजाती है, यद्यपि इनमें से कोई भी उसका अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

साम्यवाद से सहज सम्बन्ध होने के कारण प्रगतिवादी साहित्य को मुख्यतः सामाजिक या सामूहिक चेतना मानता है वैयक्तिक नहीं। जिस प्रकार साम्यवाद समष्टि या समूह के हितों की चिंता और रक्षा करता है, व्यक्ति के नहीं, उसी प्रकार प्रगतिशील साहित्य समाज के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति को ही महत्व देता है, व्यक्ति के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति को नहीं। अर्थात् प्रगतिशील लेखक की भावना सामाजिक भावना है, व्यक्तिगत नहीं। वह सौंदर्य को अपने हृदय या दूसरे की आंखों में देखने की अपेक्षा सामाजिक स्वास्थ्य में देखता है। अपनी ही समस्याओं और भावनाओं में उलझे रहना—व्यक्ति को समष्टि से पृथक् देखने का प्रयत्न—मिथ्या है; और साथ ही एक रुग्ण या विकृत मनोवृत्ति का परिचायक है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य अहं का सामाजीकरण है।

इस प्रकार, दृष्टिकोण बदल जाने से आदर्श और मूल्यों का भी बदल जाना अनिवार्य है। गत युग में जो सत्य-शिव-सुन्दर था वह आज विपरीत अर्थ रखता है। अब तो हमारे मूल्यों का माप केवल एक ही है—जनहित। आज सत्य से तात्पर्य है भौतिक वास्तविकता, शिव का अर्थ है भौतिक जीवन—सामाजिक स्वास्थ्य—में सहायक होने वाला, और सुन्दर का आशय है स्वाभाविक एवं प्रकृत। पहले प्रकृत भावनाओं का संयम, दमन और गोपन ही उनका परिष्कार और संस्कार माना जाता था, परन्तु आज इस प्रकार का दमन और गोपन अनावश्यक ही नहीं हानिकारक भी समझा जाता है। फ्रायड ने दमन और गोपन का पर्दा फाड़ कर, उसकी तह में छिपी हुई कुत्साओं का प्रदर्शन किया। अतएव प्रगतिवादी स्वस्थ मानव-प्रवृत्तियों को—जिन में मुख्य क्षुधा और काम हैं—प्रकृत रूप में व्यक्त करने से नहीं घबराता :

धिक् रे मनुष्य तुम स्वस्थ शुद्ध निश्छल चुम्बन
अङ्कित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर!

क्या गुह्य क्षुद्र ही बना रहेगा बुद्धिमान,
नर-नारी का यह सुन्दर स्वर्गिक आकर्षण !!

विचार के साथ अभिव्यंजना भी बदली। सबसे पहिले तो कला के प्रति दृष्टिकोण ही बदल गया—

ललित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण।

अब तक काव्य के आलम्बनों में जिस प्रकार प्रकृत, अनगढ़ एवं लघु का तिरस्कार और सुन्दर, मनोरम एवं महत् का ही ग्रहण होता था, इसी प्रकार अभिव्यक्ति के उपकरणों में भी। प्रगतिवाद ने कहा कि यह अन्तर काल्पनिक है। जीवन में सब-कुछ केवल सूक्ष्म, सुगढ़ और कोमल ही नहीं है; उसमें स्थूल, दृढ़ और अनगढ़ भी है और जो शायद अधिक उपयोगी है। स्वस्थ जीवन-दर्शन वही है जो उसकी वास्तविकता को स्वीकार करे—जीवन को उसके सम्पूर्ण रूप में ग्रहण करे। रूप-मोह या मानसिक विलास में पड़कर जीवन के उन स्वस्थ उपादानों का, जिनका वाह्य प्रकृत और अनगढ़ है, तिरस्कार करना क्षयी मस्तिष्क का काम है।

इसलिए प्रगतिवादी ने अपनी अभिव्यक्ति के उपकरण आग्रहपूर्वक साधारण-स्वस्थ जन-जीवन से ग्रहण करना आरम्भ किया। वह अपने काव्य-चित्रों का आधार नित्य-प्रति के व्यवहार को बनाता है। उसकी अलंकरण-सामग्री सूक्ष्म, कोमल या चुनी हुई नहीं है, वह स्थूल और प्राकृत है। एक शब्द में, उसकी कला विलास, रूप-रङ्ग, और रोमांस से प्रेम नहीं करती। इसीतरह प्रगतिवाद की शब्द-योजना में भी प्राकृत जन-जीवन का अनगढ़पन मिलता है, रीति काल की पालिश और छायावाद की अमूर्त मधुचर्य्या नहीं। अतएव प्रगतिवादी अभिव्यक्ति खरी, खड़ी और तीखी होती है—क्योंकि वह मुख्यतः भावात्मक न हो कर आलोचनात्मक है।

सारांश यह है कि प्रगतिवाद जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का नाम है, जिसके मूलतत्व ये हैं :—

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद :—केवल भौतिक विधान की मान्यता, ईश्वर और आत्मा की सत्ता की अस्वीकृति।

साम्यवाद (जिसके मूल में मानववाद भी अन्तर्निहित है):—साम्यवाद का समर्थन; पूंजीवाद और उससे सम्बद्ध राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और साहित्यिक रूढ़ियों के विरुद्ध क्रांति।

राष्ट्रीय भावना :—प्रगतिवाद के अन्तर्गत राष्ट्रीयता का भी समावेश है, परन्तु वह साधारण दक्षिणपक्षीय राष्ट्रीयता से भिन्न है। पराधीनता के उन्मूलन आदि प्रश्नों पर प्रगतिवादी शक्तियों का लक्ष्य भी वही है जो दक्षिण-पक्षीय शक्तियों का, परन्तु उनकी विधि में अंतर है। इनकी विधि पूर्णतः क्रांति की विधि है जिसका आधार एकांत भौतिक है। वह अहिंसादि आदर्शमय साधनों को कोई मान्यता नहीं देती। इसके अतिरिक्त प्रगतिवाद में राष्ट्र केवल सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है, अन्य वर्गों के प्रति उसे सहानुभूति नहीं है। अतएव प्रगतिवाद का राष्ट्रवाद सर्वहारावाद अथवा जनवाद का ही पर्य्याय है।

प्रगतिवाद को प्रभावित करने वाली शक्ति मुख्यतः कार्ल मार्क्स है, और किन्हीं अंशों में डारविन और फ़ायड भी। और, इसकी अभिव्यक्ति भावात्मक की अपेक्षा बौद्धिक अर्थात् आलोचनात्मक अधिक है। प्रगतिवाद के एकाध नादान दोस्त की मोटी अक़्ल में फ़ायड का महत्व नहीं बैठ पाता पर इससे फ़ायड का कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। जीवन के भौतिक-बौद्धिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में फ़ायड का योग मार्क्स से कम नहीं है।

यह हुआ प्रगतिवाद का तात्विक विश्लेषण। परन्तु उसके ये सभी सिद्धांत निर्विवाद स्वीकार नहीं किये जा सकते—उन पर कुछ मूलगत आक्षेप सरलता से हो सकते हैं।

पहला आक्षेप तो यह है कि प्रगतिवादी जीवन-दर्शन संकुचित है : जीवन की केवल आर्थिक व्याख्या संगत नहीं। इस विषय में सीधी युक्तियों की अपेक्षा एक निषेधात्मक युक्ति अधिक सफल होगी। मार्क्स-वादियों ने मानव इतिहास की जो आर्थिक व्याख्या की है वह अधूरी और अनेक स्थानों पर असंगत एवं अवि-श्वसनीय है। उदाहरण रूप में काडवेल की 'इल्यूज़न एण्ड रियैलिटी' पुस्तक के उस सुन्दर एवं महत्वपूर्ण परिच्छेद की ओर संकेत किया जा सकता है जिसमें वे अङ्गरेज़ी साहित्य के इतिहास का विवेचन करते हुए केवल उन्हीं मोटी-मोटी बातों को ले सके हैं जो उनका प्रयोजन सिद्ध करती हैं। अंगरेज़ी-साहित्य की अनेक सूक्ष्म और उलझी हुई प्रवृत्तियों को उन्होंने बिल्कुल छोड़ दिया है। मेरी अपनी बौद्धिक सीमाएँ हो सकती हैं; परन्तु मुझे यह सचमुच हास्यास्पद लगता है कि जहां फ़ायड-जैसे अतलदर्शी मनोवैज्ञानिक मानव-मन की परीक्षा करते हुए अंत में नेति-नेति कह देते हैं वहां मार्क्स का साधारण अनुयायी भी सिर्फ़ पैदा-वार की बातचीत करता हुआ उसके अंतिम सत्यों तक झट से पहुँच जाता है। यह विश्वास और उत्साह स्तुत्य होने पर भी बुद्धिसंगत नहीं है।

दूसरा आक्षेप यह है कि साहित्य अपने मूलरूप में सामाजिक या सामूहिक चेतना नहीं है, वह तो वैयक्तिक चेतना ही हो सकती है। मनुष्य पहले व्यक्ति है पीछे समाज की इकाई; और उसका पहला रूप ही मौलिक रूप है। अतएव साहित्य अपने वास्तविक रूप में जीवन के प्रति व्यक्ति की अथवा अनात्म के प्रति आत्म की प्रतिक्रिया ही है, अर्थात् साहित्य वस्तुतः आत्माभिव्यक्ति ही है। हमारे आत्म या व्यक्तित्व की दो प्रवृत्तियां हैं : अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति बहिरंग को अपने अंदर खींचती हुई गहरी अथवा घनीभूत होती रहती है; बहिर्मुखी प्रवृत्ति अन्तरङ्ग का बाहर प्रसार करती हुई व्यापक होती रहती है। मनुष्य में संस्कार और परिस्थिति-वश इनमें से एक का प्राधान्य हो जाता है। साहित्य की सृजन-प्रक्रिया से स्पष्ट है कि वह जीवन की भावगत व्याख्या है। वह जीवन की अन्तर्मुखी साधना है। अतः स्वभाव से ही साहित्यकार में अन्तर्मुखी वृत्ति का ही प्राधान्य होता है। वह जितना महान होगा उसका अहं उतना ही तीखा और बलिष्ठ होगा जिसका पूर्णतः सामाजीकरण असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। संसार में ऐसा महान साहित्यकार विरला ही होगा जिसने किसी अपरागत उद्देश्य से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित कर लिया हो। गोर्की, इक़बाल, मिल्टन आदि के व्यक्तित्व का विश्लेषण असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर देगा कि उनके भी साहित्य में जो महान है वह उनके दुर्दमनीय अहं का ही विस्फोट है, साम्यवाद, इस्लाम या प्यूरिटन मत की अभिव्यक्ति नहीं। महान साहित्य असाधारण प्रतिभा के असाधारण क्षणों की सृष्टि है, और यह असाधारण प्रतिभा समाज या समूह से, जिसका कि अधिकांश साधारण प्रतिभा और शक्ति वाले लोगों से बना हुआ है, सहानुभूति रखती हुई भी—और यह भी सर्वथा अनिवार्य नहीं—अपनी चेतना को उसमें लय नहीं कर सकती। उसकी अपनी चेतना समाज से बहुत कुछ ग्रहण करती हुई भी सृजन के अर्ध-चेतन क्षणों में वनस्पति से ढकी हुई चिनगारी की तरह प्रज्ज्वलित हो उठेगी।

वास्तव में अपने मूल रूप में जीवन का एक दृष्टिकोण होते हुए भी व्यावहारिक रूप में प्रगतिवाद एक विशेष राजनीतिक विचार-धारा का ही उच्चार है जो बलपूर्वक साहित्य द्वारा अपनी प्रत्यक्षाभिव्यक्ति चाहता है। इस लिए उसमें प्रायः वही सामयिक उत्साह और प्रचार-भावना मिलती है जो सम्प्रदायों में सर्वत्र पायी जाती है। अतः जहां तक ये लोग अपनी बात कहते हैं हम उसे आवश्यक काट-छांट के बाद आसानी से ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु जब

अपनी उस अंतिम मार्क्सवादी कसौटी पर ये लोग अपर साहित्य को कसते हैं तो इनके परिणाम सर्वथा भ्रामक और अन्यायपूर्ण होते हैं। मार्क्सवाद एक नवीन और काफ़ी स्वस्थ जीवन-दर्शन है : साहित्य पर उसके द्वारा नवीन प्रकाश पड़ रहा है। परन्तु उसकी उपादेयता व्याख्या तक ही सीमित है : उसके द्वारा किया हुआ मूल्यांकन एकांगी होता है। मुझे सबसे बड़ी आपत्ति प्रगतिवाद के मूल्यों से ही है: वह साहित्य और पैदावार का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे रोटी-पानी या जीवन के सामयिक प्रश्नों को हल करने का सीधा साधन मान कर बहुत ही सस्ता बना देता है।

आदिकाल से ही मानव-मन अनेक जीवन-दर्शनों का आविष्कार करता रहा है। परन्तु उसके सभी प्रयत्नों का ध्येय रहा है केवल आनन्द की प्राप्ति। साहित्य भी आनन्द-प्राप्ति का एक प्रयत्न है, किन्तु यह प्रयत्न स्थूल और प्रत्यक्ष नहीं है। सुख के लिए किए हुए मानव प्रयत्नों में साहित्य अत्यन्त सूक्ष्म, परिष्कृत और मधुर प्रयत्न है। आध्यात्मिक चिन्तन इससे भी सूक्ष्म है, पर वह इतना मधुर नहीं है। साहित्य की साधना और सिद्धि दोनों में ही आनन्द है। अतएव आनन्द को छोड़ और कसौटी मानना हमारी समझ में नहीं आता। जीवन के मूल्य चिरन्तन ही मानने पड़ेंगे। क्योंकि जीवन चिरन्तन है, जीवन की मौलिक वृत्तियां चिरन्तन हैं—कम-से-कम मानव-सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक तो चिरन्तन ही चली आयी हैं।

चिरन्तन शब्द का कोई काव्यमय अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। चिरन्तनता अन्त में जाकर एक सापेक्षिक गुण सिद्ध होती है जिससे स्थायित्व का चरम आधिक्य और परिवर्तनशीलता की चरम न्यूनता का ही अभिप्राय है। आज भी हमें वाल्मीकि और होमर की कविताएँ अनेक सामयिक कविताओं से कहीं अधिक आनन्द देती हैं, उनकी प्राणवत्ता अब भी ज्यों-की-त्यों है। इसका कारण यही है कि मानव-मन में कुछ ऐसे गुण हैं जो देश-काल के परिवर्तनों के बीच भी बने रहते हैं। मनोवैज्ञानिक हमें बताते हैं कि ये गुण और कुछ नहीं मानव-जीवन की मूल वृत्तियाँ ही हैं। देश-काल का प्रभाव इन पर इतना ही पड़ता है कि किसी विशेष परिस्थिति में कोई विशेष मनोवृत्ति बलपूर्वक एक विशेष रूप में अपने-आपको अभिव्यक्त करे। स्वयं साम्यवाद का मूल उस आदिम मानव-वृत्ति प्रेम में मिल जाता है। आज जो हम सबको अथवा उन व्यक्तियों को भी जो स्पष्ट रूप से पूंजीवादी हैं सुन्दर प्रगतिशील कविता प्रिय लगती है, इसका एकमात्र कारण यही है कि घोर-से-घोर पूँजीवादी और उतने ही कट्टर साम्य-

वादी दोनों के अंतरतम में कुछ तार ऐसे हैं जो एक सामान्य अनुभूति से झंकृत होकर वाह्य भेदों की अवहेलना करते हुए बरबस मिल जाते हैं। यह सामान्य अनुभूति है मानववाद जिसका दार्शनिक नामकरण चाहे कभी हुआ हो पर जो अपने मूल रूप में प्रेम का एक प्रस्फुटन होने के कारण अनादि काल से चला आ रहा है। हम में से अधिकांश के हृदय को साम्यवाद का विज्ञान स्पर्श नहीं करता—उसकी मूलवर्त्तिनी मानव-कल्याण या पारस्परिक सहानुभूति की भावना ही स्पर्श करती है।

सारांश यह है कि साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी जो अब तक चली आयी है वही ठीक है—अर्थात् आनन्द। साहित्य की सृजन-क्रिया स्वयं साहित्यकार को आनन्द देती है और उसके व्यक्त रूप का ग्रहण पाठक या श्रोता को आनन्द देता है। हमें जो साहित्य जितना ही गहरा और स्थायी आनन्द दे सकेगा उतना ही वह महान होगा, चाहे उसमें किसी सिद्धान्त का—साम्यवाद, गांधी-वाद, मानववाद, पूँजीवाद, किसी भी वाद का—समर्थन हो या विरोध।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि पूँजीवाद की जो प्रवृत्तियां स्पष्टतः मानव-हित में घातक हैं उनका समर्थन कैसे श्रेयस्कर हो सकता है। पर इसका उत्तर सरल है। पहले तो यह अनुचित समर्थन मानव-मन को आनन्द देने में ही असमर्थ होगा; और यदि समर्थ होगा भी तो लेखक की अनुभुति की तीव्रता और आत्माभिव्यक्ति की निष्कपटता के कारण ही। आप कह सकते हैं कि वह ग़लत रास्ते पर है, लेकिन उसकी ईमानदारी और ताक़त की दाद आपको देनी ही होगी। इसी उलझन को सुलझाने के लिए तो पुराने आचार्य ने रसानुभूति को अलौकिक कहा था। वह बेचारा यही कहना चाहता था कि इस प्रकार के लोक-प्रचलित अस्थायी वादों के द्वारा साहित्य का रस अशुद्ध हो जाता है। काव्य रसात्मक है—सदैव रहा है और आशा यही है कि रहेगा भी। जिसमें रस नहीं है वह अपने उच्च सिद्धांतों या किसी भी अन्य कारण से काव्य से भी ऊँची वस्तु हो जाय पर काव्य नहीं हो सकता।

अतएव, जहाँ तक व्याख्या का सम्बन्ध है, मार्क्सवाद ने हमें एक नया मार्ग दिखाया है और उसके लिए हम कृतज्ञ हैं। परन्तु एक तो यह मार्ग अन्तिम—एकमात्र मार्ग नहीं है फ़्रायड आदि द्वारा प्रदर्शित अन्य मार्ग कम उपयोगी नहीं। दूसरे, यह एक परीक्षण-विधि मात्र है, मूल्यांकन की कसौटी नहीं। इस नयी विधि का प्रयोग हमें रस-परीक्षण के ही लिए, इसकी सीमाओं

को स्वीकार करते हुए करना चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में तो शुद्ध मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र का ही, जो मनोविज्ञान का ही एक अङ्ग है, अधिक विश्वास करना उचित होगा।

एक और आक्षेप जो प्रगतिवाद के मूल सिद्धान्तों पर किया जा सकता है यह है कि इसका दृष्टिकोण मूलतः वैज्ञानिक होने के कारण बौद्धिक एवं आलोचनात्मक है। अतएव स्वभाव से ही उसमें वह तन्मयता या आत्मविसर्जन नहीं है जो काव्य के लिए अनिवार्य है। अस्तु।

हिन्दी कविता में प्रगतिवाद का आविर्भाव पिछले ८--१० वर्ष में ही हुआ है। यह एक विचित्र संयोग है कि हिन्दी में प्रगतिवाद का भी सबसे पहला कवि, जिसने उसे गौरव दिया, वही व्यक्ति है जो छायावाद का भी एक प्रमुख प्रवर्तक था। मेरा आशय कवि पंत से है। पंत की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' प्रगतिशील काव्य की प्रमुख कृतियां हैं। पंत के सहयोग में नरेन्द्र ने भी 'पलाशवन', 'मिट्टी और फूल' आदि में अनेक प्रगतिशील कविताएं लिखीं। परन्तु पंत जी के मानसिक जीवन के विकास में युगवाणी और ग्राम्या का सृजन-काल एक संस्थान मात्र था। अन्ततः स्थूल भौतिक दर्शन पंत का मनःपरितोष नहीं कर सका और वे जीवन के सूक्ष्म आध्यात्मिक मूल्यों के देश में फिर लौट गये। जीवन में स्थिरता आने के साथ नरेन्द्र का भी जीवन-दर्शन बदल गया है।

उधर अंचल ने भी 'मधूलिका' और 'अपराजिता' की रंगीन कविताओं के बाद 'करील' आदि में ऐसी कविताएं लिखीं जो इसी वर्ग में आती हैं। शिवमंगलसिंह सुमन की अनेक रचनाओं में भी प्रगतिवाद का गहरा रंग रहा। इधर नागार्जुन आदि इस प्रकार की रचनाएं कर रहे हैं।

चौंकने की बात नहीं, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दी में शुद्ध प्रगतिशील रचनाएँ तो मिल जायंगी, परन्तु इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सर्वथा ग्रहण कर लेने वाला पूर्णतः प्रगतिशील कवि या लेखक अभी सामने नहीं आया। लेकिन ऐसा कहना, हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य का तिरस्कार करना नहीं है। एक तो उसका इतिहास ही ८-१० वर्षों में सिमटा हुआ है। दूसरे अन्य देशों में भी, शायद रूस को छोड़कर, आलोचना ही अधिक है सृजन कम। हिन्दी में भी स्वभावतः आलोचना ही अधिक है और इसके कई कारण हैं :

१. हिन्दी-कवियों का दृष्टिकोण अभी वैज्ञानिक अर्थात् भौतिक एवं

बौद्धिक नहीं बन पाया । अभी वह अधिकांश में भाव-प्रधान है । आत्मा का मोह भी ये कवि नहीं छोड़ पाये हैं । इसलिए हिन्दी-साहित्य में मानववाद या क्रान्ति-भावना ही मुख्य है, वैज्ञानिक साम्यवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बहुत कम ।

२. हिन्दी में अभी सामाजिक चेतना इतनी प्रबल नहीं हुई है कि व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएं उसमें लय हो जायं । अभी अधिकांश कवियों में वैयक्तिक गीत-तत्व की प्रचुरता है ।

३. हिन्दी में जिन प्रवृत्तियों ने छायावाद को जन्म दिया उनको पूरी तरह अभिव्यक्त होने का अवसर नहीं मिल पाया । कुछ तो एक साथ बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति और कुछ प्रापैगैण्डा के परिणाम-स्वरूप वे प्रवृत्तियां एक साथ समय से पहले ही दब गयीं । 'प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से नहीं पैदा हुआ, वह उसके यौवन का गला घोंट कर ही उठ खड़ा हुआ' । कामायनी, तुलसीदास और अनामिका—उधर युगवाणी के रचना-काल में कोई विशेष अन्तर नहीं है । आज के अधिकांश प्रगतिवादी कल के छायावादी हैं—अतएव यह स्वाभाविक है कि इनकी ओर से पूरी-पूरी कोशिश होने पर भी वह क्षयी रोमांस (?) बार-बार उभर आता है । अब भी ये प्रायः वहीं उस मधु-माधव के उपवन में पलायन कर जाते हैं । दिनकर की रसवंती, अंचल की मधूलिका और अपराजिता, नरेन्द्र की कामिनी और स्वयं पन्त की ग्राम्या में संकलित अनेक कविताएं मेरे कथन की पुष्टि करेंगी ।

४. हिन्दी के अधिकांश प्रगतिशील लेखक उस जीवन से दूर हैं जो उनकी प्रेरणा का मूल-स्रोत है । उनके सिद्धान्त पढ़ कर और मनन कर प्राप्त किये हुए हैं, सह कर और भोग कर नहीं । केवल बौद्धिक सहानुभूति के बल पर शोषितों की पीड़ा को मुखर करने वाले या हज़ारों मील दूर पर लड़ने वाली लाल सेना के अभियान गीत लिखने वाले इन लेखकों की रचनाएँ स्वभावतः ही प्राणवान कैसे हो सकती हैं ?

अभी भारतीय जीवन में गांधीवाद और साम्यवाद का संघर्ष चल रहा है । गांधीवाद का भारत के संस्कारी हृदय पर गहरा प्रभाव है । गत दशाब्दी के पूर्वार्ध में राजनीतिक तथा अन्य कारणों से उसके विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई जिसका वेग युद्ध के दिनों में और भी बढ़ गया था । परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत और विशेषकर गांधी के महाबलिदान के पश्चात् उसका ज़ोर बहुत ही कम हो गया है । आजकल स्वयं प्रगति वर्ग में भी मौलिक मतभेद उत्पन्न हो

गये हैं। स्वभावतः आज प्रगतिवाद की स्थिति अत्यंत अस्थिर है। उसकी परिधि में सत्साहित्य की सृष्टि अत्यन्त विरल हो गई है। भारत में प्रगतिवाद का भविष्य साम्यवाद के साथ बँधा हुआ है लेकिन फिर भी आधुनिक काव्य के अध्येता को आदर और धैर्यपूर्वक उसका अध्ययन करना होगा। उसने हिन्दी काव्य को एक जीवन्त चेतना प्रदान की है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता।

: ७ :

प्रयोगवादी कविता

प्रयोगवादी कविता

यों तो प्रत्येक युग की ही कविता प्रयोगवादी होती है क्योंकि वह वस्तु और शैली दोनों में अपनी पूर्ववर्ती कविता से भिन्न प्रयोग करके ही अपने आविर्भाव की घोषणा करती है। परन्तु इन दिनों यह विशेषण आधुनिक कविता की एक प्रवृत्ति विशेष के लिए प्रायः रूढ़-सा हो गया है। शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भावतत्त्व और रूप-आकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असंतोष-सा उत्पन्न हो गया था, और धीरे-धीरे यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और उसी के अनुरूप अत्यन्त बारीक तथा सीमित काव्य-सामग्री एवं शैली-शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने में सफल नहीं हो सकते। निसर्गतः उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई—भाव-वस्तु में छायावाद की तरल-अमूर्त अनुभूतियों के स्थान पर एक ओर व्यावहारिक-सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियों की मांग हुई—दूसरी ओर सुनिश्चित बौद्धिक धारणाओं का जोर बढ़ा, और शैली-शिल्प में छायावाद की वायवी और अत्यन्त सूक्ष्म-कोमल काव्य-सामग्री के स्थान पर विस्तृत जीवन की मूर्त-सघन और नानारूपिणी काव्य-सामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। आरम्भ में इस प्रतिक्रिया का एक समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों में इन कवियों के दो वर्ग पृथक् हो गये—एक वर्ग सचेत होकर निश्चित सामाजिक-राजनीतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति को अपना परम कवि-कर्त्तव्य मानकर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक-राजनीतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा। उसने किसी राजनीतिक वाद की दासता स्वीकार नहीं की, वरन् काव्य की वस्तु और शैली-शिल्प को नवीन प्रयोगों द्वारा आज के अनेकरूप, अस्थिर, चिर-प्रयोगशील जीवन के उपयुक्त बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। पहले वर्ग को हिन्दी

में प्रगतिवादी और दूसरे को प्रयोगवादी नाम दिया गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों का पार्थक्य सर्वथा स्थिर और सीमा-रेखाएं एकांत दृढ़ नहीं हैं। साहित्यिक वर्ग-विभाजन में यह कभी सम्भव ही नहीं होता —अनेक प्रगितवादी शैली-शिल्प के प्रयोगों के प्रति अत्यन्त जागरूक हैं, उधर अनेक प्रयोगवादियों की भाव-भूमिका पर एकांततः साम्यवाद का प्रभाव है। अन्तर केवल प्राथमिक उद्देश्य का है—पहला वर्ग जहाँ सामाजिक चेतना की जागृति को अपना प्राथमिक उद्देश्य मानता है, दूसरा अर्थात् प्रयोगवादी वर्ग वहाँ वस्तु और शैली दोनों में चिर-प्रयोगशीलता को प्राथमिकता देता है।

प्रयोगवादी कविता का मूल तत्त्व स्वभावतः ही काव्य-विषयक प्रयोग अथवा अन्वेषण है। "दावा केवल यही है कि ये सातों अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है। × × × × बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुंचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राहों के अन्वेषी। (अज्ञेय, तार सप्तक की भूमिका)।' इस वर्ग के कवियों का विश्वास है कि जीवन की ही तरह काव्य भी एक चिर-गतिशील सत्य है जिसकी वास्तविक साधना शोध, अन्वेषण एवं प्रयोग है। अतएव वस्तु और शैली दोनों ही के क्षेत्र में ये काव्य के पूर्ववर्ती उपादानों को सन्देह से देखते हैं और नवीन उपकरणों को आग्रहपूर्वक ग्रहण करते हैं'। जीवन और काव्य दोनों में ही एतादृशत्व के ये घोर विरोधी हैं। यह इनको सर्वथा अमान्य है कि किसी भी समय ऐसी अवस्था आ सकती है जब कि जीवन का सम्पूर्ण सत्य प्राप्त हो जाता है—और फिर उसी की पुनरावृत्ति शेष रह जाती है। यही बात काव्य पर भी लागू होती है! काव्य का परम तत्व प्रत्येक युग के लिए सदैव प्राप्य ही रहता है—अपने पूर्ववर्ती युग के प्राप्त पर कोई युग जीवित नहीं रह सकता।

प्रयोगवादी-कविता का जन्म छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। अङ्गरेजी साहित्य में भी प्रयोगवादी कविता में रोमानी प्रकृति के विरुद्ध विद्रोह का एक तीखा स्वर मिलता है, परन्तु वह व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धान्तिक अधिक है। हिन्दी में यह प्रतिक्रिया अधिक स्थिर और स्पष्ट है'। भाव-क्षेत्र में छायावाद की अतीन्द्रियता और वायवी सौन्दर्य-चेतना के विरुद्ध एक वस्तुगत मूर्त और ऐन्द्रिय चेतना का विकास हुआ और सौन्दर्य की परिधि

में केवल मसृण और मधुर के अतिरिक्त परुष, अनगढ़ और 'भदेस' का समावेश किया गया। वास्तव में नए कवि ने अतिशय-कोमलता और मार्दव से ऊब कर अनगढ़ और भदेस को कुछ अधिक ही आग्रह के साथ ग्रहण किया :

निकटतर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टांगों पर खड़ा नत-ग्रीव
धैर्य-धन गदहा।

यहां तो केवल वस्तु में ही भदेसपन है क्योंकि इन पंक्तियों का लेखक अपने व्यक्तित्व के अतिरिक्त परिमार्जन के कारण भाषा को भदेस नहीं बना पाया है। अन्तर्वाह्य भदेसपन के लिए डा० रामविलास और श्री० केदार, या हंस में नित्यप्रति छपने वाली कविताएं आदर्श हैं :

सरग था ऊपर
नीचे पताल था
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल दिमाग भुस का, खद्दर का खाल था।

(नागार्जुन)

अपने दृष्टिकोण की सफाई में उसने कहा कि सौन्दर्य को केवल-मधुर कोमल में सीमिति कर देना अत्यन्त संकुचित दृष्टि का परिचायक है। सौन्दर्य-चेतना एक अत्यन्त व्यापक चेतना है और गत्यात्मक भी, जो परिस्थिति के अनुसार विकसित होती रहती है। जिस प्रकार मधुर-कोमल उसका एक रूप है उसी प्रकार अनगढ़ और परुष भी। आज के जीवन में अनगढ़ और भदेस हमारे अधिक निकट है इसलिए उसकी चेतना हमारे लिए अधिक वास्तविक और स्वाभाविक है।

आज का जीवन सर्वथा विश्रृङ्खलित और अव्यवस्थित है; जीवन-मूल्यों की इतनी भयंकर अराजकता पहले शायद ही कभी सामने आई हो। राजनीतिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था के साथ सांस्कृतिक और दार्शनिक उलझनों ने मिलकर जीवन में अगणित गुत्थियां डाल दी हैं—जिनमें कि आज का विचारक फँस कर रह जाता है। इस प्रकार के राजनीतिक विप्लव तो पहले भी आये थे। परन्तु मानव-चेतना पर उनका इतना सर्वव्यापी प्रभाव नहीं पड़ा। पर आज तो जैसे

समाज और सभ्यता का आधार ही भंग हो गया है। इसका कारण यह है कि पहले तो राजनीति और संस्कृति प्रायः स्वतंत्र थीं, किन्तु आज वे एक दूसरे में गुँथ गई हैं। राजनीतिक विप्लव ने भयंकर आध्यात्मिक विप्लव को भी जन्म दे दिया है, विश्वास का सूत्र सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया है। और आज की सबसे बड़ी दुर्घटना यही सर्वग्राही अविश्वास है। आज हमें न अध्यात्म-दर्शन में विश्वास है, न भौतिक दर्शन में। विज्ञान ने ईश्वर-विश्वास तो हिला दिया है—परन्तु वह अपने में विश्वास जमाने में असफल रहा। समाज की प्राचीन व्यवस्था भंग हो गई परन्तु नवीन व्यवस्था दूर तक नहीं दिखाई देती। राजनीति में हिंसा-अहिंसा, प्रजातंत्रवाद, साम्यवाद, सर्वाधिकारवाद का, और अर्थनीति में पूंजीवाद और समाजवाद का, दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि का, और मनोविज्ञान में चेतन और अवचेतन आदि का ऐसा कुहराम मचा हुआ है कि आज के मानव की चेतना एकांत धूमिल और तमसाच्छन्न हो गई है। ऐसी अवस्था में किसी स्थिर रोमानी सौन्दर्य्य-बोध को ग्रहण कर लेना असम्भव है। यदि ऐसा किया जाता है तो वह वास्तविक और हार्दिक नहीं है—वह केवल काल्पनिक अथवा भावगत है। छायावादी सौन्दर्य-बोध के विरुद्ध इन कवियों का यही प्रबल आक्षेप है—और ये उसके प्रतिकार-रूप आज के आच्छन्न जीवन के अनुकूल संकुल सौन्दर्य्य-बोध को ही वास्तविक एवं हार्दिक मानकर चलते हैं।

जीवन-मूल्यों की यह अव्यवस्था नवीन काव्य में अत्यंत मुखर है। आध्यात्मिक, सामाजिक, और साहित्यिक उपादानों में लघु गुरु के अन्तर को यह कवि झटके के साथ अस्वीकार कर देता है—और मेंढक, चांदनी रात और सूत्र-सिंचित वृक्ष से खड़े हुए गदहे, नूपुर-ध्वनि और चप्पल, कांट, फ्रिवटे और खाली चाय की प्याली को साथ-साथ ग्रहण करता है।

१. *तू सुनता रहा मधुर नूपुर-ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल !*

(भारतभूषण)

२. *कब तक मगज मारता बैठूँ तुम से कांट और बोज़ांके,*
तर्क घुला जाता है बांके, उधड़ रहे सीने के टांके।
जीवन धोखा हो तो हो, यह प्यार कभी जोखों से खाली
यह सब एक विराट व्यंग है, मैं हूँ सच औ चा की प्याली।

(माचवे)

यहीं से प्रयोगवादी कविता का वस्तु-परक दृष्टिकोण जोर पकड़ता है। प्रयोगवादी कवि का आग्रह है कि वह अपने दृष्टिकोण को अधिक-से-अधिक वस्तु-गत बनाये, वस्तु पर अपने मन का रंग न चढ़ाकर वस्तु की आन्तरिक अर्थ-व्यञ्जना को अनूदित करे। आज के हिन्दी कवि के लिए यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है क्योंकि वह छायावाद की अतिशय भावपरकता में पगा हुआ है। केवल केदार, शमशेरसिंह और अंशतः अज्ञेय ही इसमें सफल हो सके हैं। कारण यह है कि छायावाद के विरुद्ध उत्कट चेतना रखते हुए भी इनमें से *अधिकांश कवि उसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये।*

वास्तव में देखा जाय तो इन कवियों के लिए अपने व्यक्तित्व से बचना सम्भव नहीं है। इनमें से अधिकांश कवियों की प्रवृत्ति एकांत अन्तर्मुखी है और वे अपने मन की निविड़ता में उलझे हुए हैं—सबसे अधिक अज्ञेय। मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रभाववश अवचेतन का अध्ययन इनकी कविता का मुख्य विषय है। अवचेतन की काम-कुण्ठाओं का प्रतीकों द्वारा यथा-तथ्य चित्रण अज्ञेय और गिरिजाकुमार में अत्यन्त स्पष्ट है और वैसे अन्य कवि भी इससे मुक्त नहीं हैं। छायावाद में भी यह प्रवृत्ति अत्यधिक प्रबल थी। परन्तु दोनों की चेतना में काफ़ी अन्तर है। छायावाद का कवि जहाँ अनजाने ही अपनी कुण्ठाओं को काम-प्रतीकों द्वारा (प्रधानतः प्रकृति-प्रतीकों द्वारा) सहज रूप में व्यक्त करता था वहीं प्रयोगवादी कवि के प्रतीक-विधान में अवचेतन-विज्ञान का सचेष्ट उपयोग रहता है। इस प्रकार इस कविता में व्यक्तित्व की निविड़ताओं को वैज्ञानिक प्रतीकों द्वारा वस्तुगत रूप में अङ्कित करने का प्रयत्न रहता है, और एक ऐसी बौद्धिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है जहाँ वस्तु-परक और व्यक्ति-परक दृष्टिकोण प्रतिद्वन्द्वी न रहकर साधक-साध्य बन जाते हैं। कवि अपने अवचेतन के अर्धव्यक्त अनुभव-खंडों को, जो एकांत व्यक्तिगत होते हैं, यथावत् वस्तु रूप में अङ्कित करने का प्रयत्न करता है। यथावत् अङ्कन का यह प्रयत्न काव्य की बिम्ब-ग्रहण पद्धति के विपरीत पड़ता है। इनमें विशेष की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का इतना उत्कट आग्रह रहता है कि कवि साधारणी-करण नहीं कर पाता—वरन् एक प्रकार से वह साधरणीकरण को अनावश्यक ही मानता है। वह अपने विशिष्ट अव्यवस्थित भाव-खंडों को उसी अव्यवस्थित रूप में प्रतीकों द्वारा अनूदित करने का प्रयत्न करता है। उसका अभीष्ट रहता है अवचेतन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति—अतएव वह निकटतम प्रतीकों का प्रयोग करता है। अवचेतन भाव-खंडों के पास पहुँचते-पहुँचते ये प्रतीक स्वयं भी अर्ध-

व्यक्त और निविड़ होते चले जाते हैं। परन्तु इसको वह सर्वथा स्वाभाविक एवं अनिवार्य मानता है, क्योंकि उसका मत है कि अर्धव्यक्त की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण-व्यक्त प्रतीक अवांछित हैं। वे श्रोता या पाठक को अभिप्रेत भाव-खंड का संवेदन न कराकर उसके मन में किसी भिन्न भाव-खंड अथवा धारणा की उद्‌बुद्धि करते हैं। अतएव वह अर्धव्यक्त एवं असम्बद्ध प्रतीकों का सचेष्ट प्रयोग करता है और अपने इस प्रयत्न में मनोविश्लेषण-शास्त्र की 'मुक्त-विचार प्रवाह', 'स्वप्न-चित्र' आदि पद्धतियों से प्रत्यक्ष सहायता ग्रहण करता है।

परिणाम-स्वरूप एक गहन बौद्धिकता इन कविताओं पर सीसे के पर्त की तरह जमती जाती है। छायावाद के रंगीन कल्पना-वैभव और सूक्ष्म-तरल भावना-चिंतन के स्थान पर यहां ठोस बौद्धिक तत्व का बोझीलापन है, परन्तु स्मरण रहे कि ये रचनाएं प्राचीन दार्शनिक अथवा चिंतन-विचारप्रधान कविताओं की परम्परा में नहीं आतीं। उदाहरण के लिए विनयपत्रिका, अथवा इधर प्रसाद, महादेवी आदि की दार्शनिक कविता और नवीन प्रयोगवादी कविता में कोई साम्य नहीं है। उन कविताओं में जहाँ दर्शन अथवा विचार को राग का विषय बनाया गया है वहाँ इन कविताओं में प्रायः रागात्मक तत्व को बौद्धिक माध्यम द्वारा व्यक्त किया गया है। प्राचीन कविता में विचार और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक सम्बन्ध था, पर इस कविता में विषय और काव्यानुभूति के बीच बुद्धिगत सम्बन्ध है। वास्तव में इस कविता का मुख्य उपादान-साधन बौद्धिक धारणाएं (Intellectual concepts) हैं जो प्रायः विज्ञान, राजनीति-शास्त्र, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि की उपजीवी हैं।

यहाँ तक तो हुई भाव-वस्तु की बात। शैली-शिल्प के क्षेत्र में प्रयोगवाद का आग्रह और भी उत्कट है, "जो व्यक्ति का अनुभव है उसे समष्टि तक कैसे पहुँचाया जाय यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।" इस क्षेत्र में प्रथम विशेषता है भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग। प्रयोगवादी शब्द की प्रचलित अर्थ-व्यंजना को सामान्यतः ग्रहण करना पसन्द नहीं करता। अपने विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करने के लिए वह साधारण शब्दार्थ को असमर्थ पाता है, इसलिए वह उसका विशिष्ट प्रयोग करता है—अर्थात् "शब्द के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ उसमें भरना चाहता है।" उसके

मन में यह विश्वास बैठ गया है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ रूढ़ हो गई हैं अतएव वह भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक और सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।" इसके लिए वह तरह-तरह के प्रयोग करता है : एक तो विज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान मनोविश्लेषण-शास्त्र, बाज़ार, गाँव, गली-कूचे सभी जगह से शब्द एकत्र करता हुआ अपने शब्द-भंडार को व्यापक बनाता है; दूसरे शब्दों का विचित्र और सर्वथा अनर्गल प्रयोग करता है; और तीसरे अपने अप्रस्तुत-विधान को अत्यन्त असाधारण रूप देने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त वह भाषा की व्यंजना और समास-शक्ति पर इतना भार लादने की चेष्टा करता है कि वह अस्त-व्यस्त हो जाती है, और उसकी अर्थ-व्यंजना जवाब दे देती है : अपने उस 'बड़े अर्थ' को पाठक के मन में उतार देने के लिए भाषा के साधन अपर्याप्त ठहरते हैं, निदान उसे इतर साधनों की शरण लेनी पड़ती है—"भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतों, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों, छोटे-बड़े टाइप, सीधे-उलटे अक्षरों, लोगों और स्थानों के नामों, अधूरे वाक्यों" की शरण लेनी पड़ती है। या फिर, वह विदेश के प्रभाववादी, मूर्तिवादी आदि प्रयोगों का जाने-अनजाने में अनुकरण करता हुआ पाठक के सामने एक गोरख-धन्धा उपस्थित कर देता है।

इसी प्रकार छन्द-विधान में भी इस क्षुब्ध-संकुल भाव-वस्तु और तदनुरूप अस्त-व्यस्त काव्य-सामग्री को वहन करने योग्य नए-नए प्रयोग अनिवार्य हो गए। पुराने वर्णिक और मात्रिक छन्दों की स्थिरता नए जीवन की अस्थिरता को वहन नहीं कर सकती। इसलिए प्रयोगवादी कवि प्रायः मुक्त छन्द को ही ग्रहण करता है और उसमें वर्णिक और मात्रिक छन्दों की भिन्न-भिन्न संयोजनाओं के अतिरिक्त पदांश और स्वर-पात आदि की भी व्यवस्था करता है। तुकों का वह अत्यन्त सूक्ष्म प्रयोग करता है, पूर्णान्त तुकों का तो वह प्रायः प्रयोग ही नहीं करता क्योंकि उसकी धारणा है कि पूर्णान्त तुक छंद-बंदों को अतिशय नादमय बना कर विषय की गम्भीरता के अनुरूप नहीं रहने देतीं। वह तुकान्त शब्दों का प्रयोग अन्त में न कर प्रायः पंक्ति के बीच में करता है—और उनके द्वारा लय को समृद्ध करता है। इसके अतिरिक्त अर्थ से स्वतन्त्र संगीत को भी वह अपने माध्यम के अनुकूल नहीं पाता और उसका सतर्कता से बहिष्कार करता है। अर्थ के ही अनुकूल उसके छन्द-विधान में एक प्रकार की गद्यमयी निविड़ता रहती है जो केदार, शमशेरसिंह जैसे कवियों

में अत्यन्त नीरस और जड़ हो जाती है; अज्ञेय अपने शब्द-चयन के बल पर उसकी गद्यमयता को तो अवश्य कम कर देते हैं परन्तु संगीत का समावेश वे भी नहीं कर पाते। संगीत और ध्वनि-सौन्दर्य की दृष्टि से गिरिजाकुमार की सफलता स्तुत्य है। वास्तव में नये कवियों में मधुर-कोमल स्वर-सौन्दर्य का व्यावहारिक ज्ञान उनको ही है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात जो अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है वह है इन कविताओं की दुरूहता! ये कविताएं अनिवार्य रूप से ही नहीं सिद्धान्त रूप से भी दुरूह हैं। इस दुरूहता के अनेक कारण ऊपर दिये हुए हैं—जिनमें चार मुख्य हैं: भावतत्त्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध, साधारणीकरण का त्याग, उपचेतन मन के अनुभव-खंडों के यथावत् चित्रण का आग्रह, तथा काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकांत वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग। इनके अतिरिक्त एक और भी कारण है और वह है इन सब का मूलवर्ती कारण—नूतनता का सर्वग्राही मोह, जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में रहता है। ये कारण यदि आनुषंगिक होते तो इनको सफ़ाई के रूप में ग्रहण किया जा सकता था। परन्तु, इसके विपरीत ये सभी कारण सैद्धान्तिक हैं। और, मेरा सबसे बड़ा आक्षेप यही है कि ये कारण सैद्धान्तिक हैं क्योंकि इनके आधार-भूत सिद्धांत ही सदोष हैं और मनोविज्ञान तथा काव्य-शास्त्र दोनों की कसौटियों पर ही खोटे उतरते हैं।

सबसे पहले भाव-तत्व और काव्यानुभूति के बुद्धिगत सम्बन्ध को लीजिये! काव्य के विषय में और चाहे कोई सिद्धान्त निश्चित न हो, परन्तु उसकी रागात्मकता असंदिग्ध है। इसे पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों ही काव्य-शास्त्र निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार करते हैं। कविता मानव-मन का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है—यह एक विश्वजनीन सत्य है, और कविता की यही चरम सार्थकता है। समय-समय पर बुद्धि और राग में थोड़ी-बहुत प्रतियोगिता रही हो वह दूसरी बात है; परन्तु कभी भी बुद्धि को राग के स्थान पर काव्य का प्राणतत्व होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। जब कभी बुद्धितत्त्व रागतत्त्व के ऊपर हावी हुआ है, काव्य तत्त्व भी उसी अनुपात से क्षीण हो गया है। काव्य का यह मापदण्ड छोटे-बड़े सभी कवियों के विषय में लागू रहा है। दांते, तुलसी, मिल्टन, प्रसाद जिस-किसी कवि ने भी बौद्धिक तत्त्व के प्रति पक्षपात दिखाते हुए राग की उपेक्षा की है, काव्य के पारखी ने

तुरन्त ही उसके बुद्धि-वैभव की प्रशंसा करते हुए भी काव्य-गुण की क्षीणता का निर्णय दे दिया है । इसका निषेध करने का साहस टी. एस. इलियट में भी नहीं है । काव्य की सार्थकता इसी में है कि वह राग को संवेदनीय बनाये, बौद्धिक तत्त्व को संवेदनीय बनाना काव्य का काम नहीं है। शक्ति का साहित्य अथवा ललित साहित्य वस्तु के साहित्य से इसी बात में मूलतः भिन्न है । यह अन्तर जब तक काव्य का अस्तित्व है तब तक बना रहेगा । इसका तिरोभाव होने से काव्य के अस्तित्व पर ही आघात होता है । प्रयोगवादी कवि ने नवीनता की झोंक में इसी मूल सिद्धान्त का तिरस्कार कर काव्य के मर्म पर चोट की है, और इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी रचना प्रायः काव्य नहीं रह गई है उसमें मन को स्पर्श अथवा चित्त को द्रवित करने की शक्ति नहीं रही। दूसरे शब्दों में—उसमें रस का अभाव है । पहले तो उसका अर्थ ही हाथ नहीं पड़ता और यदि दिमाग़ को खुरच कर उसका अर्थ निकाल भी लिया जाय तो पाठक के मन का प्रसादन नहीं होता, और उसे एक प्रकार की खीझ-सी होती है।

प्रयोगवादी कवि का दूसरा आग्रह है उपचेतन की उलझी हुई संवेदनाओं का यथावत् चित्रण । यहाँ भी वह एक भयंकर मनोवैज्ञानिक त्रुटि करता है। अन्तर्चेतन की संवेदनाएं प्रायः सभी उलझी होती हैं। कला या काव्य की सार्थकता ही यह है कि वह उस अरूप को रूप देता है, उलझे हुए संवेदनों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है। क्रोचे के सिद्धान्त में थोड़ा अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि सहजानुभूति से पूर्व अनुभव का स्वरूप संवेदनाओं की गुत्थियों से भिन्न नहीं है। कवि में सहजानुभूति की शक्ति जन-साधारण की अपेक्षा अधिक होती है—अतएव जन-साधारण जिन उलझे हुए संवेदनों का अनुभव-भर करके रह जाता है, कवि उनकी सहजानुभूति कर उन्हें रूप दे सकता है। यही मौलिक कवि-कर्म है, और इसीलिए एक प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में कविता का उद्‌भव हुआ। परन्तु प्रयोगवादी अपने मन की उलझी हुई संवेदनाओं को यथावत् अर्थात् उसी उलझे रूप में उपस्थित करने के लिए उलटे-सीधे प्रयत्न करता हुआ अभिव्यञ्जना के मूल सिद्धान्त का ही तिरस्कार करता है । वास्तव में उसके प्रयत्न की अनिवार्य असफलता ही उसके सिद्धांत की असंगति का अकाट्य प्रमाण है ।

साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियों के रुद्ध हो जाने की बात भी काफ़ी

विचित्र है। प्रयोगवादी की सफ़ाई है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ आज के जीवन की अतिशय उत्तेजना को वहन करने में असमर्थ हैं। नई प्रणालियों की उद्भावना अभी नहीं हुई, इसलिए कवि अपने अर्थात् व्यक्ति के अनुभूत को सहृदय—समाज—का अनुभूत बनाने में असमर्थ रहता है। परन्तु यह बात नहीं है। कवि नवीन प्रयोगों की धुन में साधारणीकरण का या तो प्रयत्न ही नहीं करता या फिर ऐसा प्रयत्न करता है जिसमें साधारणीकरण के मूल सिद्धान्तों का ही निषेध रहता है। वास्तव में साधारणीकरण शैली का प्रयोग न होकर एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका मूल आधार है मानव-सुलभ सह-अनुभूति। इसमें सन्देह नहीं कि आज का जीवन विगत जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक उलझा और पेचीदा हो गया है और मानव-मन की प्रवृत्तियाँ भी उसी अनुपात से निविड़ एवं जटिल हो गई हैं। फिर भी साधारणीकरण के सिद्धांत में इससे कोई अन्तर के नहीं आता क्योंकि कवि मन की निविड़ता के साथ सहृदय के मन की निविड़ता भी तो उसी अनुपात से बढ़ गई है। जिन परिस्थितियों ने कवि के मन को प्रभावित किया है उन्हीं ने सहृदय के मन पर भी प्रभाव डाला है। अतएव कवि और सहृदय के मानसिक धरातल में एक-सा परिवर्तन होने के कारण साधारणीकरण की स्थिति वैसी ही रहती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि कवि साधारणीकरण का प्रयत्न ही नहीं करता। वह विशेष को साधारण रूप में प्रस्तुत करने के बजाय विशेष रूप में ही प्रस्तुत करने का बेतुका प्रयत्न करता है। आख़िर उसके और सहृदय के बीच मानसिक सम्पर्क स्थापित करने का माध्यम तो वही हो सकता है जो दोनों के लिए—साधारण हो। परन्तु वह इस साधारण को पुराना समझ कर नये माध्यम की खोज में न जाने क्या-क्या चमत्कार दिखाता है। लेकिन वास्तव में यह सब कुछ नहीं है। यह कवि की सहजानुभूति की विफलता-मात्र है। उसने उलझन को एक प्रयोग-वादी सिद्धांत के रूप में ऐसे आग्रह के साथ स्वीकार कर लिया है कि वह उसमें एक प्रकार के गौरव का अनुभव करता है। एक तो उसकी संवेदनाएं ही इतनी उलझी हुई हैं कि उनकी सहजानुभूति अर्थात् उन्हें बिम्ब रूप में प्रस्तुत करना अपेक्षाकृत कठिन है, दूसरे वह उलझन को ही संवेदनीय मान बैठा है। परिणाम यह होता है कि उसकी अभिव्यक्ति सर्वथा विफल रहती है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थितियों में इस विफलता का कारण कवि में सहजानुभूति की अक्षमता भी होती है। कवि की अनुभूति में ही इतनी शक्ति नहीं होती कि वह संवेद्य को बिम्बरूप में ग्रहण और प्रस्तुत कर सके। सहजानुभूति को क्रोचे ने कल्पना

का गुण माना है । परन्तु यह कल्पना भी सर्वथा अनुभूति ही पर आश्रित है । अतः सहजानुभूति के लिए अनुभूति-क्षमता सर्वथा अपेक्षणीय है । जब तक अनुभूति में शक्ति नहीं है कवि के मन में संवेदनों का बिम्ब बनना सम्भव नहीं है । प्रयोगवादी कवि बुद्धिव्यवसायी है, अपनी अनुभूति पर उसे विश्वास नहीं है । परिणामतः वह सहजानुभूति में असमर्थ रहता है अर्थात् अपने संवेद्य को बिम्ब-रूप में न तो वह ग्रहण कर सकता है—और न प्रस्तुत ही कर सकता है—और इसके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं है ।

अब रह जाता है भाषा का एकांत वैयक्तिक प्रयोग जिसके अन्तर्गत शब्दों का अनर्गल उपयोग, असाधारण प्रतीक-विधान आदि आते हैं । यह वास्तव में साधारणीकरण-विरोधी प्रवृत्ति का ही स्थूल रूप है और उसी की भाँति असंगत भी । भाषा एक सामाजिक साधन है । उसकी सार्थकता ही यह है कि वह व्यक्ति के मन्तव्य को समाज पर प्रकाशित कर सके । अतएव उसका प्रयोग सामाजिक ही हो सकता है, वैयक्तिक नहीं । शैली की वैयक्तिकता दूसरी बात है—शैली में शब्द-संयोजना, वाक्य-रचना, लक्षणा व्यञ्जना आदि का उपयोग निश्चय ही व्यक्तिगत होता है, परन्तु शब्द का कोई अनर्गल अर्थ देना, अथवा शब्दों की अस्त-व्यस्त संयोजनाओं द्वारा किसी सर्वथा असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति कराना, या अप्रचलित प्रतीकों द्वारा किसी अर्धव्यक्त अनुभव-खण्ड को अनूदित करना तो भाषा के मूल सिद्धान्त के ही प्रतिकूल है । साधारणतः तो पाठक आपके अभिप्राय को समझेगा नहीं किन्तु यदि आपकी टिप्पणियों की सहायता से समझ भी जाय तो उसे गोरखधन्धे को खोलने का आनन्द मिल सकता है काव्य का आनन्द नहीं मिल सकता । साधारण दुरूहता भी रस-प्रतीति में बाधक होती है लेकिन जहाँ प्रयत्न-पूर्वक दुरूहता के सभी साधन एकत्र किए गए हों, वहाँ रस-प्रतीति कैसी ?

सारांश यह है कि जीवन की भाँति काव्य में भी नवीनता और प्रयोग का बड़ा महत्व है, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि मूल्यों का संतुलन बना रहे । जीवन के मूल तत्त्वों पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए उन्हीं के पोषण और समृद्धि-विकास के निमित्त प्रयोग करना, उनको रूढ़ि और स्थविरता से बचाने के लिए नवीन गति-विधि का अन्वेषण करना सार्थक और स्तुत्य है । परन्तु यदि एतादृशत्व-मात्र से वैर हो जाय, और नवीनता की खोज अथवा नये प्रयोग साधन न रहकर साध्य बन जांय, उनको यदि जीवन के मूल तत्वों से अधिक

महत्त्व दिया जाने लगे, तो वे अपनी सार्थकता खो बैठते हैं और प्रायः बाधक बन जाते हैं। काव्य के विषय में भी ठीक यही बात है। काव्य के मूलतत्त्व रस-प्रतीति पर दृष्टि केन्द्रित रखकर, काव्य को गतिरोध और रूढ़ि-जाल से मुक्त करने के लिए नये प्रयोग स्तुत्य हैं—वे काव्य के साधक हैं। परन्तु क्रम को उलट कर काव्य की आत्मा का तिरस्कार करते हुए प्रयोगों को स्वतन्त्र महत्त्व देना, उन्हें ही साध्य मान लेना हलकी साहसिकता-मात्र है—काव्य-गत मूल्यों का अनुचित तथा अनावश्यक क्रम-विपर्यय है।